जीवन में सच्चा सुख और सच्ची शान्ति कैसे मिले?

प्रजापिता ब्रह्माकुमारी ईश्वरीय विश्वविद्यालय
मुख्यालयः आबू पर्वत, राजस्थान (भारत)

जीवन में सच्चा सुख
और
सच्ची शान्ति कैसे मिले?

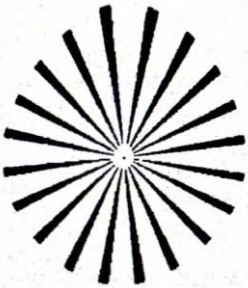

प्रकाशक

प्रजापिता ब्रह्माकुमारी ईश्वरीय विश्व विद्यालय

मुख्यालय : पाण्डव भवन, माउण्ट आबू राजस्थान (भारत)

अमृत-सूची

क्रं.सं.	विषय	पृष्ठ सं.
1.	आज मनुष्य के मन में शान्ति क्यों नहीं? (सम्पादकीय)	3
2.	चिन्ता मिटे कैसे, शान्ति मिले कैसे?	4
3.	निकट सम्बन्धी अथवा स्नेही मित्र का देहान्त होने पर भी मन को शान्ति कैसे मिले?	9
4.	अपमान की परिस्थिति में भी मन में शान्ति कैसे बनी रहे?	14
5.	विपरीत परिस्थितियों में भी शान्ति कैसे हो?	22
6.	व्यर्थ-चिन्तन और पर-चिन्तन कैसे मिटे और शान्ति कैसे मिले?	23
7.	रोग की अवस्था में भी मन में शान्ति कैसे रहे?	28
8.	निर्धनता की अवस्था में भी मन में शान्ति कैसे रहे?	33

मुद्रक :
ज्ञानामृत भवन,
शान्तिवन, आबू रोड (राज.)

लेखक :
ब्रह्माकुमार जगदीश चन्द्र

Copyright : Brahma Kumaris Ishwariya Vishwa Vidyalaya, Mount Abu (Raj.)
No part of this book may be printed without the permission of the publisher.

आज मनुष्य के मन में शान्ति क्यों नहीं?

संसार के सभी लोग शान्ति के लिये परमपिता परमात्मा ही से प्रार्थना करते हैं। प्रश्न उठता है कि जबकि परमात्मा शान्ति के सागर हैं और मनुष्यात्माओं के परमपिता भी हैं और मनुष्यात्मायें शान्ति के लिए उनसे याचना भी करती हैं तब भी विश्व में अथवा जन-मन में अशान्ति क्यों है? इसका विवेकयुक्त और अनुभवगम्य उत्तर केवल यही है कि आज मनुष्य का परमात्मा से कोई व्यवहारिक (Practical) सम्बन्ध नहीं है और कि मनुष्यात्मा परमपिता परमात्मा की आज्ञा के विरुद्ध कर्म-व्यवहार कर रही है अर्थात् उसने मन, वचन तथा कर्म में काम, क्रोध आदि विकारों को बसा रखा है। अत: शान्ति के लिए पुकारने पर भी उसे शान्ति नहीं मिलती। अब यही रहस्य समझाने के लिए स्वयं परमपिता परमात्मा शिव प्रजापिता ब्रह्मा के मानवी तन में अवतरित हुए हैं और वह शान्ति का उपहार लेकर आये हैं। परन्तु यह उपहार उन्हीं के लिए सुलभ है जो कि अपने पाँचों विकारों रूपी आक का उपहार परमात्मा शिव को देते हैं और ईश्वरीय ज्ञान रूपी रत्न उनसे लेते हैं। वास्तव में अशान्ति के मुख्य रूप हैं -- चिन्ता, अपमान, किसी की मृत्यु से होने वाला शोक, निर्धनता, रोग इत्यादि। प्रस्तुत पुस्तिका में इस बात पर प्रकाश डाला गया है कि इन परिस्थितियों में भी मनुष्य को शान्ति कैसे मिले?

--सम्पादक

चिन्ता मिटे कैसे, शान्ति मिले कैसे?

आज हरेक मनुष्य किसी-न-किसी प्रकार की चिन्ता से पीड़ित है। विद्यार्थी को अपने परीक्षा परिणाम की चिन्ता है तो माता-पिता को अपनी पुत्री को बड़ा होते देखकर उसके लिए अनुकूल वर ढूँढने की चिन्ता है। एक व्यक्ति किसी अन्य को उधार देने के पश्चात् अब इस चिन्ता में है कि पता नहीं अब वह मनुष्य धन लौटायेगा या नहीं? दूसरा मनुष्य इस चिन्ता में पड़ा गल रहा है कि जो धन उधार लिया है वह अब चुकाऊं कैसे? निर्धन लोगों को रोटी की चिन्ता है तो धन कमाने वालों को यह चिन्ता है कि हम धन को किस धन्धे में लगायें अथवा कि हमारा काला धन कहीं पकड़ा न जाय। राजनीतिक लोगों को यह चिन्ता है कि हम शासन-सत्ता किस प्रकार हथियाएं और सत्ताधारी लोगों को यह चिन्ता है कि कहीं सत्ता उनके हाथ से छूट न जाय! देश की सरकार को शत्रु देशों से सुरक्षा की या विरोधी दल के राजनीतिक दाव-पेचों से बचकर रहने की चिन्ता है तो बेरोज़गार लोगों को रोज़गार की चिन्ता लगी हुई है। इस प्रकार चिन्ता तो आज यत्र-तत्र-सर्वत्र है अर्थात् सर्वव्यापक है। प्रश्न उठता है कि चिन्ता की ज़ंजीरों से मुक्त कैसे हों?

चिन्ता का मूल

गहराई से विचार करने पर आप इसी निर्णय पर पहुँचेंगे कि मनुष्य चिन्ता तब करता है जब उसे किसी न किसी प्रकार हानि की अथवा कुछ भी अशुभ, अहित, अनिष्ट अथवा इच्छा के विरुद्ध होने की आशंका हो। उदाहरण के तौर पर विद्यार्थी सोचता है कि अगर परीक्षा-फल अच्छा न हुआ तो बड़ा अहित अथवा अकल्याण हो जायेगा। माता-पिता सोचते हैं कि यदि कन्या के लिए शीघ्र ही अच्छा वर न मिला तो बड़ा ही अमंगल हो जायेगा। बनिया सोचता है कि यदि उधार दिया गया पैसा वापस न मिला तो अनर्थ हो जायेगा। बेरोजगार व्यक्ति स्वयं से कहता है कि यदि जल्दी से कोई धन्धा हाथ न लगा तो बहुत ही अनिष्ट हो जायेगा। इस प्रकार भविष्य के विषय में थोड़ी-बहुत निराशा या आशंका होना ही चिन्ता का मूल कारण है।

अब देखा जाय तो निराशावादियों की इस प्रकार की चिन्ता के परिणामस्वरूप ही निराशा उनके पल्ले पड़ती है। उदाहरण के तौर पर जब बनिया सोचता है कि- ''पता नहीं अमुक व्यक्ति उधार दिया धन मुझे वापस देगा या नहीं,'' तो वह अपने इस संशयात्मक संकल्प से उस व्यक्ति के मन को भी डाँवाँडोल कर देता है जिससे कि उसको धन लेना है। बनिये की निराशावादात्मक चिन्ता के परिणामस्वरूप वह मनुष्य भी कभी तो सोचता है कि धन लौटा दूँ? कभी सोचता है कि कुछ दिनों के बाद लौटा दूँगा और कभी कहता है कि अब तो मेरी आर्थिक स्थिति ऐसी हो गई है कि अब उधार वापस लौटाना कठिन है। इस प्रकार की चिन्ता से जो सूक्ष्म मानसिक प्रकम्पन या विचार-तरंगें उत्पन्न होती हैं, वह वातावरण को तथा उस मनुष्य (जिसके बारे में यह शंका है कि पता नहीं वह धन लौटायेगा या नहीं) के मन को बिगाड़कर प्राय: वही परिणाम पैदा कर देती है जो कि चिन्ता वाला मनुष्य शुभ एवं हितकर नहीं मानता। मनुष्य संशय करता है अर्थात् स्वयं हिल जाता है तो उसका कर्म-फल भी हिल जाता है। अत: मनुष्य को चाहिए कि कभी भी अशुभ, अमंगल, अनिष्ट, अहित या हानि की चिन्ता न करे बल्कि अपना तथा दूसरों का सदा शुभ-चिन्तक ही बना रहे क्योंकि अशुभ की चिन्ता या चिन्तन से अशुभ ही परिणाम होता है और यदि अशुभ फल न होकर आशातीत और शुभ परिणाम हो भी तो भी अशुभ की चिन्ता करने वाला मनुष्य परिणाम का क्षण आने से कई दिन, कई महीने, अथवा कई वर्ष पहले अपनी चिन्ता से स्वयं को घायल करके अपने सिर पर यों ही पाप लेता है। अनिष्ट होने से पहले ही अनिष्ट की चिन्ता में दु:खित होना कोई यथार्थ पुरुषार्थ नहीं है बल्कि यह तो भावी को भूत मानकर उससे डरना है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह चेष्टा तो करे परन्तु चिन्ता न करे; वह शुभ-चिन्तन तो करे किन्तु अशुभ की चिन्ता न करे।

चिन्ता करने से चॉन्स (Chance) चला जायेगा।

चिन्ता करने वाला मनुष्य सदा यही सोचता है कि – ''पता नहीं अब क्या होगा?'' परन्तु देखा जाय तो इस प्रकार की चिन्ता करने की आवश्यकता ही नहीं

है क्योंकि यह तो निश्चित है कि यदि हम अच्छा करेंगे तो अच्छा ही होगा। होगा तो वही जो हमारे वर्तमान कर्मों तथा गत काल में किए गए कर्मों के फलस्वरूप होना होगा। तब फिर जो दृश्य आया ही नहीं उसकी पहले से चिन्ता अब क्यों की जाय? जबकि अनहोनी तो होनी ही नहीं है, तब फिर हम यह चिन्ता क्यों करें कि क्या होगा?

मनुष्य को सोचना चाहिए कि -''यह संसार तो एक नाटकशाला है। अब जो वृत्तान्त हो रहे हैं, उन्हें हम दृश्य की तरह देख रहे हैं, ये दृश्य समाप्त होने के बाद भावी पर्दे पर दूसरा जो दृश्य आयेगा, उसे भी साक्षी होकर देख लेंगे, उसकी अभी चिन्ता क्यों करें? इस सृष्टि-रूपी नाटक की भावी रूपी रील जैसे-जैसे खुलकर वृत्तान्तों के रूप में हमारे सामने आती जायेगी वैसे-वैसे साक्षी होकर हम उसे देखते जायेंगे। अभी तो भविष्य का पार्ट गुप्त है, तब उसकी व्यर्थ चिन्ता क्यों? वर्तमान समय तो पुरुषार्थ का है, भविष्य देखने का है, चिन्ता का तो कोई समय ही नहीं है। अभी यदि हम भविष्य की चिन्ता में लग जायेंगे तो वर्तमान चान्स (Chance; अवसर) अथवा समय भी हमारे हाथ से निकल जायेगा। अत: हमें चिन्ता न करके चान्स लेना चाहिए और पुरुषार्थ करते चलना चाहिए।

चिन्ता करना दूर-दर्शिता नहीं है, बल्कि दु:ख-दर्शिता है

कोई व्यक्ति ऊपर की गई चर्चा को सुनकर कह सकता है कि मनुष्य को दूरन्देश अर्थात् दूरदर्शी तो होना ही चाहिए? परन्तु चिन्ता करने का अर्थ न होकर दूर का 'अन्देशा' लगाना है यानी दूरदर्शी न होकर दु:ख-दर्शी होना। इसलिए हम कहते हैं कि मनुष्य को सोच-विचार तो करना ही चाहिए परन्तु चिन्ता की चक्की में पिसना नहीं चाहिए। उसे 'चिन्तन' तो करना चाहिए परन्तु 'चिन्ता' की चिन्गारी में अपने को झुलसाना नहीं चाहिए।

बाल-बच्चे बड़े हो रहे हैं तो उसकी चिन्ता, किसी को पैसा दिया है तो उसकी चिन्ता, किसी के रोगी होने का समाचार मिला है तो भी चिन्ता यह तो बुरी आदत है। आखिर हम इस संसार में चिन्ता की चिन्गारी में जलने के लिए थोड़े ही आये

हैं? इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह चिन्ता न करे, शुभ कर्म करते हुए शुभ की चेष्टा करे क्योंकि चिन्ता करने से मनुष्य का चित्त गिर पड़ता है। परन्तु शुभ चेष्टा करने से उसमें चुस्ती आती है और उसकी चाल शुभ हो जाती है।

चिन्ता करने से भला लाभ ही क्या है? चिन्ता वाला मनुष्य जो परिणाम चाहता है, यदि वैसा ही परिणाम निकल आया तब तो उसकी चिन्ता करते रहना व्यर्थ ही सिद्ध हुआ और यदि वैसा परिणाम न निकला जैसा कि वह चाहता था, तब भी उसकी चिन्ता करने से परिणाम में कोई परिवर्तन तो हुआ ही नहीं। तो स्पष्ट है कि उसने चिन्ता कर-करके स्वयं को व्यर्थ ही कष्ट दिया। अत: मनुष्य को यह मानना चाहिए कि चिन्ता पुरुषार्थ में सम्मिलित नहीं है बल्कि यह तो एक प्रकार से आत्म-हत्या के समान है। मृतक मनुष्य का जब शरीर जलाया जाता है तब उसे दु:ख नहीं होता क्योंकि तब तो शरीर में चेतना ही नहीं होती। परन्तु शरीर जलाये जाने से पहले जीवित मनुष्य को चिन्ता का दाह अवश्य ही अनुभव होता है, अत: शारीरिक मृत्यु से पहले मानसिक मृत्यु रूप यह जो चिन्ता है, इससे मनुष्य को बचकर ही रहना चाहिए।

ईश्वर का चिन्तन ही चिन्तामणि

चिन्ता से निवृत्ति के लिए चिन्तामणि प्रसिद्ध है। कहते हैं कि एक मणि है यदि वह किसी के हाथ आ जाय तो उसकी सभी मनोकामनायें पूर्ण हो जाती हैं, सभी दु:ख दूर हो जाते हैं। प्राचीन कथाओं में इस मणि की बड़ी महिमा है। परन्तु स्पष्ट है कि ऐसी कोई स्थूल मणि तो वास्तव में हो ही नहीं सकती क्योंकि चिन्ता तो मन की एक सूक्ष्म वृत्ति, दृष्टिकोण अथवा स्वभाव का नाम है। तो प्रश्न उठता है कि वास्तव में चिन्तामणि क्या है?

वास्तव में ईश्वर के स्वरूप का चिन्तन ही एक पुरुषार्थ है जिससे कि मनुष्य के सभी क्लेश नष्ट हो जाते हैं और वह पूर्ण सुख प्राप्त कर लेता है। इसलिए इस चिन्तन को 'चिन्ता' न कहकर 'चिन्तामणि' अर्थात् 'सभी चिन्ताओं से छुटकारा दिलाने वाली अनमोल युक्ति' माना गया है।

अतएव मनुष्य को चाहिए कि चिन्ता न करके चिन्तामणि को ग्रहण करे। वह आत्म-चिंतन और परमपिता परमात्मा के आनन्दस्वरूप का चिन्तन करे। अन्य प्रकार की चिन्ताओं से तो मनुष्य का मन इधर-उधर भागता है परन्तु आत्म चिन्तन से मनुष्य का मन एकाग्र होता है। परमात्मा के स्वरूप चिन्तन-से मनुष्य के मन को तत्काल ही शान्ति मिलती है और उसका मन शीतल हो जाता है।

चिन्ता करने से मनुष्य की स्मृति दुर्बल हो जाती है, उसका विवेक मन्द पड़ जाता है, उसकी निर्णय-शक्ति ठीक तरह से काम नहीं करती और वह तन्मयता से पुरुषार्थ नहीं कर पाता। इसलिए चिन्ता करने से तो कार्य बिगड़ता ही है क्योंकि मनुष्य शक्ति-हीन की न्याई अथवा उलझे हुए मनुष्य की तरह काम करता है। कहावत है कि -''संकल्प से सृष्टि बनती है।'' अत: चिन्ता करने वाला मनुष्य उल्टा सोच-सोचकर उल्टा ही काम कर बैठता है और इसलिए उल्टा ही परिणाम बनकर उसके सामने आता है। वह अपने ही संकल्पों से वातावरण में खराब स्पन्दन (Vibrations or Waves) द्वारा बुरा परिणाम ले आता है। अत: निश्चिन्त होकर कर्म करने से ही मनुष्य को सफलता प्राप्त होती है क्योंकि निश्चिन्त-अवस्था में मनुष्य पूरे मन से कार्य कर सकता है। अत: मनुष्य को चिन्ता कभी नहीं करनी चाहिए।

मनुष्य को समझना चाहिए कि जीवन में उतार-चढ़ाव तो आते ही हैं। सूर्य की भी दिन-भर में तीन अवस्थाएँ होती हैं। इसलिए कहावत भी है कि ''रविहू की दिन भर में तीन अवस्था होत'' अत: दिन तो बदलते ही रहते हैं; इसमें घबराने या चिन्ता करने की क्या बात है? मनुष्य को सदा ईश्वरीय स्मृति में और आनन्द में रहते हुए पूरा पुरुषार्थ करना चाहिए।

सम्बन्धी अथवा स्नेही-मित्र का देहान्त होने पर भी मन को शान्ति कैसे प्राप्त हो?

गहराई से सोचा जाय तो वास्तव में सभी नर-नारी एक रेलगाड़ी में बैठे हुए मुसाफिरों ही की तरह हैं जिनमें से कोई पहले स्टेशन पर उतर कर चला जाता है और कोई अधिक दूर तक यात्रा करता है। रेलगाड़ी का कोई यात्री यदि अन्य किसी यात्री से अपना दिल लगा ले अर्थात् यदि वह किसी से मोह-ममता का नाता जोड़ ले और किसी स्टेशन पर उस प्रिय के उतरने पर रोने लगे तो उसका ऐसा व्यवहार अज्ञान-जनित ही मानना होगा। ठीक इसी प्रकार, परमधाम से आई हुई देहधारी आत्माओं के देह-त्याग पर शोक करना अथवा शोक मनाना भी तो वैसा ही है जैसे कि परदेसी से प्रीति जोड़कर उसे किसी स्टेशन पर उतरते देखकर रोना-चिल्लाना।

कहावत भी है कि -''पंछी और परदेसी किसी के मीत नहीं होते।'' अब आत्मा भी तो वास्तव में एक पंछी ही है जोकि इस समय देह रूपी पिंजरे या घोंसले में विराजमान है, अथवा आत्मा भी तो एक परदेसी है जो कि परमधाम से इस सृष्टि रूपी बेगाने देश में या मुसाफिरखाने में आया है। अत: यहाँ के किसी भी जीव-प्राणी से ऐसा मोह का नाता जोड़ना जिससे कि उसका देह-त्याग के बाद शोक हो, गोया ऐसा है जैसा कि इस संसार रूप मुसाफिरखाने को अपना घर मान लेना अथवा उड़ने वाले पक्षी तथा घूमने वाले परदेशी से दिल लगा लेना। यह तो ऐसा है जैसा कि इस संसार की क्षण-भंगुरता और परिवर्तनशीलता तथा शरीर की नश्वरता के अमिट नियम को मिटाने की व्यर्थ चेष्टा करना। यहाँ किसी भी मनुष्य के क्षण-पल के जीवन का भरोसा नहीं है। अत: मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी सुधि ले, वह उल्टी माला फेरने के बजाय सुल्टी माला फेरे अर्थात् मृतकों की सिमरनी को सिमरने के बजाय अमरनाथ परमात्मा शिव की स्मृति में स्थित होने का अभ्यास करे। वह 'मातम' को 'महा-तम' अर्थात् तमोगुण की पराकाष्ठा मानते

हुए 'शोक करने' की बजाय 'शान्ति' करे।

मनुष्य को यह सोचना चाहिए कि यह संसार तो दो-चार दिन का मेला है। मेले के साथियों के साथ या सम्बन्ध को अविनाशी मानना तो गोया मेला न मानकर मातम मनाने का प्रबन्ध करना है। यह तो मन को मैला करना है अथवा मेले को झमेला बनाना है।

इस प्रकार दु:ख को व्यक्त करते हुए वे लोग इस बात को जानते नहीं हैं कि -"वास्तव में हम सभी परमात्मा ही के पुत्र हैं, बाकी तो हमने इस संसार-रूपी नाटकशाला में कुछ समय के लिए भिन्न-भिन्न पार्ट बजाने के लिए ही भिन्न-भिन्न नाम व रूप लिए हैं और नाते जोड़े हैं। वास्तव में हम सभी एक विराट-नाटक के पार्टधारी अथवा एक्टर (Actor) हैं और एक स्थान पर अपना पार्ट समाप्त हो जाने पर दूसरा देह-रूपी चोला धारण करके दूसरे स्थान पर पार्ट बजाने के लिए चले जाते हैं। जिसे हम 'अपना' पुत्र मानते हैं, वह भी पहले किसी अन्य स्थान पर भिन्न नाम-रूप से भिन्न ही पार्ट बजा रहा था और बाद में वह वहाँ अपनी लीला का संवरण करके, वहाँ का चोला वहीं छोड़कर हमारे यहाँ नये चोले (शरीर) में, नये नाम-रूप से प्रकट हुआ और अब जब हमारे यहाँ उसका पार्ट समाप्त हो गया, वह अन्य स्थान पर अन्य नाम-रूप से पार्ट बजाने चला गया। उसका न तो हमारे साथ अविनाशी पार्ट था, न ही हमारे साथ कोई अविनाशी सम्बन्ध ही था क्योंकि जिस शरीर के आधार पर उसका सम्बन्ध और पार्ट था, वह शरीर ही अविनाशी वस्तु नहीं था। अत: उसका देहान्त हो जाने पर आकुल-व्याकुल होने का तो कोई कारण ही नहीं है। वह प्राणी पहले भी तो हमारे यहाँ कहीं से आया था, वह अनादि काल से तो हमारे यहाँ नहीं था? तो जो आया था, अब वह चला गया, यहाँ आना-जाना तो लगा ही रहता है। हमें भी तो जाना ही है, हमारा भी सदा यही पार्ट तो चलेगा नहीं? अत: शोक करने की बजाय शिव को याद करना चाहिए, वही हमारा सच्चा मीत, अविनाशी सम्बन्धी, बुढ़ापे की लाठी, दिल का सहारा और सुख का दाता है। हम सभी उसी के पुत्र हैं, बाकी सभी नाते क्षण-भंगुर हैं तथा कर्मों के हिसाब-किताब के आधार पर जुटे हैं। जिसका जब हमारे साथ

कर्म-खाता चुकता हो जाता है, वह हमसे बिछुड़ कर दूसरे सम्बन्ध में चला जाता है। अत: मन को ढाढ़स देना चाहिए कि रोने का तो कोई कारण नहीं है, रैन-बसेरे के साथियों के बिछुड़ने पर रोना तो भूल ही है।

शव को देखकर रुदन करने की बजाय शिव की याद

मनुष्य को सोचना चाहिए कि यदि पुत्र के मरने से पिता का रोना योग्य हो तब परमात्मा तो 24 घंटे रोने के सिवा दूसरा कोई धन्धा ही न कर सके क्योंकि सभी नर-नारी परमात्मा को अपना 'माता-पिता' मानते हैं और इस प्रकार इस संसार में कोई भी ऐसा क्षण नहीं होता जबकि कुछ-न-कुछ लोगों का देहान्त न होता हो। परन्तु यद्यपि परमात्मा प्रेम का सागर हैं और सबसे प्यार करता है, तो भी वह किसी से मोह नहीं करता, वह सदा आनन्द का सागर और 'शान्ति का सागर' कहलाता है; इससे सिद्ध है कि पिता होते हुए भी वह न्यारा है, वह ज्ञान-स्वरूप है। अत: हमें भी ज्ञान का मनन करना चाहिए और 'शव' को देख-देखकर रुदन करने की बजाय 'शिव' के नाते को सामने लाकर लगन लगानी चाहिए क्योंकि उनके बिना तो कोई भी स्थिर और समर्थ सहारा नहीं है। वह हमारा पुत्र भी है और पिता भी है, वह हमसे सभी सम्बन्ध निभा सकता है, परन्तु मनुष्य की यह अज्ञानता है कि वह परमात्मा शिव के साथ अपने सम्बन्ध को न जानता है और न चलता है, बल्कि नश्वर सम्बन्ध के टूटने पर चिल्लाता है। वरना मनुष्य जितने आँसू लौकिक सम्बन्धियों के देहान्त होने पर बहाता है, यदि वह उससे दसवाँ हिस्सा भी ईश्वरीय प्रेम के आँसुओं के रूप में परमात्मा शिव की स्मृति में बहाये तो उसका बेड़ा पार हो जाय; उसे फिर कभी भी आँसू बहाने नहीं पड़ेंगे और सहारा भी ढूँढना नहीं पड़ेगा। अत: जितना मोह माता का पुत्र में अथवा पत्नी का पति में होता है, अब उतना प्यार और वैसा घनिष्ठ नाता परमात्मा से जोड़ कर देखो तब आपको मालूम होगा कि वह कैसा समर्थ सहारा है, वह यह सम्बन्ध कैसे अन्त तक निभाता है और उससे क्या प्राप्ति होती है। वह 'पतियों का पति' और 'पिताओं का भी परमपिता', 'सखाओं में भी परम सखा' गाया हुआ है। तो अवश्य ही वह इन

सम्बन्धों के रूप में स्नेह-पूर्ण बरतता होगा ना?

मातम करने की बजाय कर्म-विधान पर ध्यान

मनुष्य तो अपने मोह के वशीभूत होकर असम्भव एवं अलभ वस्तुओं की भी इच्छा करता है, चाहे उसका परिणाम कुछ भी हो। इसी प्रकार हरेक मनुष्य अपने प्रिय सम्बन्धी और मित्र के लिए इच्छा प्रकट करता है कि वह सदा जीता रहे, उसकी कभी मृत्यु हो ही न, उसे बुढ़ापा आये ही न। परन्तु यह तो तभी सम्भव हो सकता है जबकि उन मित्र-सम्बन्धियों ने कभी कोई ऐसा कर्म किया ही न हो कि जिसका फल रोग, बुढ़ापा, मृत्यु आदि होता है, वरना तो मनुष्य का यह मनोरथ (कि वह सदा निरोगी और जीता रहे) असम्भव ही है। तथापि मोह में फँसा हुआ मनुष्य कर्म-विधान पर विचार नहीं करता और सारी सृष्टि के कार्य पर ध्यान नहीं देता बल्कि वह तो चाहता है कि किसी भी तरह मेरी इच्छा पूर्ण हो, मेरा प्रिय तो न मरे। विचार कीजिए, एक माता अपने पुत्र की ममता के कारण कहती है-"अब मेरे पुत्र को स्कूल जाना है, अब वर्षा न हो तो अच्छा होगा क्योंकि वर्षा में भीग कर मेरा पुत्र बीमार पड़ जायेगा।" उस समय वह यह नहीं सोचती कि वर्षा न होने से खेती नहीं होगी और अनाज न होने से दुर्भिक्ष पड़ेगा, न ही वह अपने तथा बच्चे के कर्मों के लेख की मेख और रेख पर ध्यान देती है। अत: यदि मोह के मारे मनुष्य की इस प्रकार इच्छाएं पूर्ण होने लगें तब तो संसार में कोई भी कार्य ठीक तरह से नहीं हो सकेगा। यदि प्रकृति के नियम मोह वाले मनुष्य की इच्छा के अनुसार चलें तब तो सारा कार्य ही रुक जायेगा; तब तो किसी की भी इच्छा पूरी नहीं हो सकेगी। एक माता इच्छा करती है कि मेरा पुत्र न मरे, दूसरी माता कहती है कि मेरे यहाँ पुत्र पैदा हो। अब यदि एक का कोई मित्र या सम्बन्धी न मरे तो दूसरे के घर पुत्र कैसे पैदा होगा? जबकि इन्हीं अनादि-अविनाशी आत्माओं ने ही स्थानान्तरित और रूपान्तरित होना है तो उन्हें एक स्थान पर देह त्यागना होगा, तभी तो वे दूसरे परिवार में देह धारण करेगी?

अत: मनुष्य को चाहिए कि किसी की मृत्यु हो जाने पर कर्मों के विधान पर ध्यान दे और यह सोचे कि -''इस संसार में आत्माओं का आना-जाना तो होता ही है।'' मेरा जब अपने शरीर पर ही अधिकार नहीं है तो दूसरों के बारे में मैं अधिकार से कैसे कह सकता हूँ कि उनका देहान्त न हो। यह सारा नाटक तो एक नियति अथवा अनादि योजना के अनुसार हो रहा है, अत: यहाँ हरेक के दीर्घ-जीवन के लिए शुभ-इच्छा तो की जा सकती है परन्तु कोई घटना घटने पर शोक करना बिल्कुल ही व्यर्थ है क्योंकि शोक करने से कोई मृतक वापस तो आना ही नहीं। अत: मुझे चाहिए कि इस प्रिय सम्बन्धी की मृत्यु को मैं अपने लिए एक सावधानी अथवा स्मारक (Reminder) मानूँ और स्वयं भी तैयार रहूं। अकेला ही तो जाना होगा। अत: अब मैं अकेलेपन में टिककर जीवन की रही हुई घड़ियों में कालों के भी काल, जो महाकाल-ईश्वर परमपिता शिव हैं, उनकी शरण में चला जाऊं और उनकी स्मृति का आनन्द लूँ। परमात्मा ही ऐसा पिता, पति, पुत्र और मित्र है जिसे काल नहीं खाता। अत: उसे मैं अपना सच्चा मीत मानकर उससे अपने मन की प्रीत जोड़ लूँ तो मेरी सद्गति हो जायेगी, यह आत्मा सदा सुहागिन, सदा सनाथ और सदा समर्थ हो जायेगी! अगर मैं मृतक मनुष्यों के गुण गा-गाकर रोता रहूंगा तो मुझे भी यमदूत लेने आ जायेंगे क्योंकि मेरे रोने से यह सिद्ध होगा कि मैं भी यमपुरी के लायक हूँ और, यदि मैं परमात्मा की याद में खुश रहूँगा तो मुझे देवताओं के विमान लेने आयेंगे क्योंकि मेरे उस पुरुषार्थ से सिद्ध होगा कि मैं धैर्य, सहनशीलता, सन्तोष, हर्षितमुखता और प्रभु-स्मृति रूपी दिव्य-गुणों से युक्त हूँ और इसलिए वैकुण्ठ के देवपद के योग्य हूँ।

इस प्रकार यदि मनुष्य इन ईश्वरीय युक्तियों की धारणा कर पुरुषार्थ करेगा तो मातम और शोक की परिस्थितियाँ उसके मन को परमपिता परमात्मा शिव ही की ओर ले जाने में सहायक सिद्ध होंगी और उसे योग तथा शान्ति में स्थिर करेंगी।

अपमान की परिस्थितियों में भी मन में शान्ति कैसे बनी रहे?

संसार में हम देखते हैं कि जब किसी मनुष्य का मान होता है तो उसे बहुत ही खुशी होती है और जब कोई व्यक्ति उसका अपमान करता है तो उसे बहुत दु:ख और अशान्ति का अनुभव होता है। इस प्रकार सामान्य मनुष्य का जीवन अपने वश में न होकर परिस्थितियों पर निर्भर करता है। कोई मान की परिस्थिति आ जाय तो वह एक घड़ी खुशी मना लेता है और यदि किसी ने थोड़ा अनुचित व्यवहार कर दिया हो तो वह चार मास तक अशांति का अनुभव करता है। परन्तु योगी के बारे में तो यह प्रसिद्ध है कि वह मान और अपमान दोनों ही परिस्थितियों में समान रीति से खुश रहता है। अत: प्रश्न उठता है कि जो मनुष्य योग द्वारा सदा ईश्वरीय आनन्द ही में रमे रहना चाहते हैं और पर-वश अर्थात् सांसारिक परिस्थितियों के वश में होकर नहीं रहना चाहते, उन्हें मान और अपमान की परिस्थितियों में कौन-सी युक्ति अपनानी चाहिए?

व्यर्थ बात के अर्थ का चिन्तन न करना

एक परिस्थिति तो वह होती है जिनमें कि वास्तव में हमारा कोई दोष नहीं होता परन्तु दूसरा कोई कटु-भाषी और अधीर व्यक्ति किसी गलतफ़हमी में पड़ कर अन्य कुछ व्यक्तियों की उपस्थिति में हमारे लिये अयोग्य और अनुचित शब्दों का प्रयोग करता है, उदाहरण के तौर पर, मान लीजिये कि कोई व्यक्ति किसी मनुष्य को अन्य कुछ व्यक्तियों की उपस्थिति में कहता है-"तुम तो बुद्धू हो, तुम बिल्कुल बेकार हो। तुम्हारी खोपड़ी में अक्ल तो है ही नहीं। क्या कहूँ, तुम बिल्कुल गधे ही हो, एकदम ही अन्धे होकर काम करते हो। सचमुच तुम तो कोई उल्लू हो।" यद्यपि दोष किसी दूसरे व्यक्ति का है परन्तु गलतफ़हमी के कारण उस मनुष्य का अपमान करने की मन्सा से वह उस पर उपरोक्त शब्दों द्वारा प्रहार करता है।

अब यदि ज्ञान की दृष्टि से देखा जाय तो ऐसी परिस्थिति में अशान्त होने का कोई भी कारण नहीं है क्योंकि वास्तव में उस मनुष्य ने कोई गलती तो की

ही नहीं बल्कि वह व्यक्ति गलतफ़हमी होने के कारण ही व्यर्थ बात कह रहा है। तब व्यर्थ बात के अर्थ का चिन्तन ही क्यों किया जाय? तो उस समय उसे यह सोचना चाहिए कि दूसरा व्यक्ति 'व्यर्थ' बात कर रहा है क्योंकि उसमें मेरा तो कोई दोष नहीं है, तब मैं उसी व्यर्थ बात के अर्थ की चिन्ता ही क्यों करूँ।

बे-परवाह बादशाह की न्याई बरतना और निश्चय रूपी सिंहासन पर अडिग रहना

दूसरी बात यह है कि किसी के कहने से तो न कोई मनुष्य 'गधा' या 'उल्लू' बनता है और न ही 'अन्धा' होता है। अत: मनुष्य को चाहिए कि यदि कोई व्यक्ति ऐसे व्यर्थ शब्द सुनाये तो वह बे-परवाह निस्संकल्प बना रहे। वह अपने निश्चय रूपी सिंहासन पर अडिग रहे और निष्ठा को न छोड़े। आज मनुष्य गलती यह करता है कि वह स्वयं को बादशाह तो मानता है (तभी तो वह चाहता है कि दूसरे उसकी इज्ज़त करें) परन्तु वह 'बे-परवाह बादशाह' अर्थात् निश्चिन्त और उपरामचित नहीं बनता। इसलिए वह शाहों-के-शाह परमात्मा की सन्तान होते हुए तथा विश्व महाराजन् श्री नारायण का वंशज होते हुए भी सुख का अनुभव नहीं करता। वह अपने निश्चय की मस्ती से निकल कर दूसरे के शब्द-जाल में आ जाता है, इसलिये उसे अशान्ति का अनुभव होता है। वह जल्दी ही निश्चय के सिंहासन को छोड़ कर नीचे उतर आता है। वरना जब कोई व्यक्ति किसी मनुष्य को कहता है कि -''आप तो उल्लू हैं'', तब उस मनुष्य को दु:ख अनुभव होने की बजाय उस व्यक्ति पर हँसी आनी चाहिए क्योंकि वह बेचारा अज्ञानता से गलत ही नाम देता है, वर्ना तो मनुष्य उल्लू नहीं है बल्कि वह 'अल्लाह का बच्चा' है। परन्तु जब हम स्वयं ही स्वयं में संशय कर बैठते हैं तो दु:खित होते हैं। इसलिए उक्ति प्रसिद्ध है कि 'अहम् को जो तू भूला, तो लगा माया का गोला।'

स्व-मान अथवा सम्मान में रहना

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि जब मनुष्य इस प्रकार स्व (आत्मा) को मान देता है और सत्य परमात्मा को मानता है तो उसे अपमान की कोई परवाह नहीं रहती। अत: मनुष्य को पहले तो अपने आपको इन शब्दों में स्व-मान अथवा

सम्मान (सत्-मान) देना चाहिए कि -''मैं तो त्रिलोकीनाथ, पतित-पावन, ज्ञान के सागर, शान्ति के सागर, आनन्द के सागर और प्रेम के सागर परमपिता परमात्मा की शुद्ध और शान्त, अमर और अविनाशी सन्तान हूँ।'' जब मनुष्य इस प्रकार 'स्व-मान' (आत्म-निश्चय) में स्थित होगा तो उसे अपमान का काँटा नहीं चुभेगा। तो याद रखिये कि आप दूसरे के अप-शब्दों को मान लेते हैं, तभी 'अपमान' अनुभव होता है।

अब यहाँ कोई व्यक्ति कह सकता है कि -''जब कोई दूसरा व्यक्ति हमारे लिये निरादर-सूचक शब्द प्रयोग करता है तब हमें अपमान का जो अनुभव होता है, वह हमारे निश्चय के कारण होता है, न कि संशय के कारण। उदाहरण के तौर पर जब कोई व्यक्ति दूसरों के सामने हमें कहता है कि -'तुम तो गधे हो....' तब हमें यह संशय कभी भी नहीं होता कि हम मनुष्य नहीं हैं बल्कि हमें तो पूरा निश्चय होता है कि हम गधे नहीं हैं, हम तो मनुष्य ही हैं, और इसी निश्चय के कारण ही हमें क्रोध आता है कि दूसरे ने हमें 'गधा' क्यों कहा और इसी क्रोध अथवा चिन्तन के परिणामस्वरूप हमें दु:ख का अनुभव होता है।'' अब इस बात पर विचार करने पर आप देखेंगे कि यद्यपि हमें यह निश्चय रहता है कि हम 'मनुष्य' हैं, हम गधे नहीं हैं परन्तु हमें उस बात में भी तो निश्चय रहना चाहिए कि दूसरे व्यक्ति के अप-शब्दों से हमारा कुछ बिगड़ेगा नहीं। हम जब सत्य पर स्थित हैं तो आज या कल सत्य की विजय होगी और वास्तविकता प्रत्यक्ष होकर ही रहेगी। हमें यह भी तो निश्चय रहना चाहिए कि हम तो ज्योति-बिन्दु मनुष्यात्मा हैं और कि हमें 'गधा' कहने वाला स्वयं ही भूला भाई है जिसके दुर्व्यवहार को सभी उपस्थित जन देख रहे हैं! हम यह क्यों मान लेते हैं कि उपस्थित जन शायद हमें गधा ही मान लेंगे? हमारा ऐसा सोचना ही तो स्वयं में संशय करना तथा दिव्य-गुणों के सिंहासन से नीचे उतर आना है। जब कोई अपमान-सूचक शब्दों का व्यवहार करता है, उस समय हमें यदि यह निश्चय हो कि हम ज्योति-बिन्दु मनुष्य आत्मा हैं, तो हमें उस व्यक्ति पर हँसी आयेगी जो हमें 'गधा' कहता है और हमें ऐसा अनुभव होगा उस मनुष्य द्वारा माया ही बोल रही है हमें ऐसा महसूस होगा कि वह मनुष्य पर-वश है, आपे से बाहर है, बेचैन है और इसीलिए वह ऐसी बात कर रहा है। उसके

मन में आग लगी हुई है, इसलिए उसके मुख से शोले (अग्नि-कण) निकल रहे हैं, परन्तु मैं तो शुद्ध और शान्त आत्मा हूँ, मैं तो ज्ञानामृत की गागर हूँ, मुझ पर उसका क्या प्रभाव? वह अज्ञानी है; वह यह नहीं जानता कि मैं ज्योति-बिन्दु आत्मा हूँ, इसलिए अज्ञान-निद्रा की अवस्था में बड़-बड़ाते हुए वह मुझे 'गधा' कह रहा है। मुझे तो अपने स्व-मान में रहना चाहिए। इस प्रकार के स्व-मान अथवा सत्-मान (सम्मान) में स्थित होने वाले मनुष्य को अपमान का दु:ख नहीं होगा।

जब आप बाह्यमुखी होकर दूसरों के अप-शब्दों को मानते अर्थात् सुनते और स्वीकार करते हैं तभी अपमान का अनुभव होता है परन्तु जब आप अन्तर्मुखी होकर ज्योति-बिन्दु स्वरूप में टिक जाते हैं तो स्व-मान अथवा सम्मान होता है-यह निश्चित नियम है।

अपनी इज्ज़त अपने हाथ में, न कि दूसरे के हाथ में

उक्ति प्रसिद्ध है कि आदमी की अपनी इज्ज़त अपने ही हाथ है क्योंकि वास्तव में दूसरों के अप-शब्दों अथवा अनुचित व्यवहार से मनुष्य का अपमान नहीं होता बल्कि जब मनुष्य स्वयं अपने मान (अर्थात् 'मैं ज्ञान, शान्ति, आनन्द और प्रेम के सागर परमात्मा की सन्तान हूँ — इन स्व-मान) को गंवा कर अपने चेहरे पर उदासी की रेखायें लाता है और स्वयं को भूलकर अनाप-शनाप बकने लगता है और अन्तर्मुखी के बजाय बाह्यमुखी हो जाता है तब वह अपनी इज्ज़त अपने आप ही उतारता है। तब लोग समझते हैं कि यह भी ओछा आदमी है, इसमें भी सहनशीलता, धीरज और महानता नहीं है। यह भी गम्भीर-चित्त तथा मधुर-भाषी नहीं है बल्कि उतना ही असभ्य, असमर्थ, अज्ञानी और अपकारी है। दूसरों का, हमारे व्यवहार को देखकर हमारे बारे में ऐसा मानना ही वास्तव में अपमान है। अत: यह कहना गलत है कि -"उस मनुष्य ने सबके सामने मेरी टोपी उतार दी।" क्योंकि वह व्यक्ति जब अनुचित व्यवहार करता है तब भी यदि हम अडोल रहते हैं तो दूसरों की निगाहों में उसी की ही टोपी उतरती है, हमारा सम्मान तो बना ही रहता है। परन्तु जब हम भी दूषित होकर उस जैसा-दूषित व्यवहार करने लगते हैं अर्थात् जब हम अपनी पवित्रता और महानता का ताज अथवा शान्ति की टोपी

स्वयं उतार देते हैं, तभी हमारी इज्ज़त की टोपी उतर जाती है।

सहनशीलता, स्नेह, मधुरता और गुण-ग्राहकता की धारणा

अब हम दूसरी परिस्थिति पर विचार करते हैं। कई बार ऐसा भी होता है कि हमारी किसी गलती से अथवा किसी अवगुण से किसी दूसरे व्यक्ति का कार्य बिगड़ जाता है अथवा उसको हानि पहुँचती है और वह उसके परिणामस्वरूप किन्हीं लोगों के सामने हमारे लिए कुछ असभ्य शब्दों अथवा व्यवहार से पेश आता है। उस परिस्थिति में भी हमें अशान्त नहीं होना चाहिए बल्कि उस विकट परिस्थिति को अपने किए हुए कर्म का दण्ड मानकर खुशी से बर्दाश्त करना चाहिए। उदाहरण के तौर पर मान लीजिए कि मेरे भाई ने मुझे कहा-''तुम पूरे चार बजे मेरा सामान लेकर रेलवे स्टेशन पर पहुँच जाना।'' अब मैंने सोचा कि अभी काफ़ी समय पड़ा है, इसलिये मैं थोड़ा समय लेट गया। मेरी आँख लग गई थी। उठते ही पूरी कोशिश की परन्तु थोड़ी देर से पहुँचा और वहाँ देखा कि गाड़ी चलने ही वाली थी और मेरे भाई मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। इसके परिणामस्वरूप, भाई साहब अन्य दोस्तों के सामने कहने लगे-''तुम तो बिल्कुल गँवार हो, तुम्हें समय का पता नहीं लगता। तुम हमेशा काम चौपट कर देते हो। तुम हमारे घर में कोई नालायक आदमी पैदा हो गये हो, जाओ दूर हो जाओ मेरी आँखो से! तुम्हें ज़रा भी अक्ल नहीं...।'' अब सम्भव है कि मुझे ऐसा महसूस हो कि मेरे भाई ने अपने दोस्तों के आगे मुझे बहुत ही बेइज्ज़त किया और यह भी सम्भव है कि ऐसा सोचकर मैं उदास और अशान्त हो जाऊं, परन्तु वास्तव में मुझे उदास या अशान्त नहीं होना चाहिए। ऐसी परिस्थिति में मुझे यह सोचना चाहिए कि मैंने जो अपकार अथवा भूल की है, यह उसका ही दण्ड है। अत: उसे मुझे खुशी-खुशी सहन करना चाहिए। क्योंकि इससे तो मेरा हिसाब चुकता हो जायेगा। भले ही मेरा भाई कुछ अनुचित शब्द प्रयोग कर रहा है परन्तु उस ग़लती को देखकर मुझे अशान्त या आकुल-व्याकुल होने की ग़लती नहीं करनी चाहिए। मुझे मुख से कुछ भी अनुचित नहीं बोलना चाहिए, बल्कि पहली ग़लती का यह दण्ड भोगकर उस कर्म

का खाता समाप्त कर देना चाहिए वरना अब कुछ अनुचित बोलने या सोचने से मेरा विकर्म-खाता और बढ़ जायेगा। मेरी गफलत ही इस सारी परिस्थिति का मूल कारण है, इसलिए अब मुझे इस परिस्थिति से यह गुण ग्रहण करना चाहिए कि भविष्य में मैं अधिक ज़िम्मेदार तथा स्फूर्ति से काम करुँगा और गफलत नहीं करुँगा।

यहाँ कोई व्यक्ति कह सकता है कि -"हमसे ग़लती हो जाने पर यदि कोई हमारा निरादार करता है तब हमें यह तो विचार आता ही है कि हमने गलती की है, हम भविष्य में अपने उस अवगुण को मिटाने का संकल्प भी करते हैं परन्तु हमें उस समय यह संकल्प आता है कि हमारी ग़लती जतलाने का जो तरीका वह व्यक्ति अपना रहा है, वह ग़लत है। हमें उसके तरीके को देखकर दु:ख होता है और मन में यह सोचकर अशान्ति होती है कि सारे लोग हमारे बारे में क्या सोचेंगे! उनके सामने हमारी इज्जत मिट्टी में मिल जाने से वह भी हमारा मज़ाक उड़ायेंगे अथवा वे हमारे बारे में कहेंगे कि -'यह डरपोक है, तभी चुप कर गया, इसे अपना स्वमान ही नहीं है, तभी यह अपमान सहन कर गया।' अब इस बात पर ज्ञान की दृष्टि से विचार करने पर आप इस परिणाम पर पहुँचेंगे कि वास्तव में ऐसा सोचना हमारी कमज़ोरी तथा भूल है। अनुभव यह कहता है कि यदि हम उस परिस्थिति में उद्विग्न होने की बजाये मुस्कराने लगते हैं और अपने मन में मलीनता या वेग को न आने देकर स्नेह और आदर से पेश आते हैं तो दूसरे के अपमान-सूचक शब्द भी हल्के हो जाते हैं, दूसरे उपस्थित जनों की दृष्टि में भी उनका कोई महत्व नहीं रहता बल्कि वह बात हँसी में ही टल जाती है। यदि हम उस अपमान-सूचक शब्द से अधिक प्रभावित और अशान्त होते हैं तब दूसरे ही उस बात पर विशेष ध्यान देते हैं और यदि हम उसे टाल देते हैं तो दूसरे भी उस पर ध्यान नहीं देते हैं। अत: युक्ति यह है कि स्नेह एवं सहनशीलता, मधुरता और दूसरों के प्रति मान का गुण अपनाते हुए उस परिस्थिति को पार कर जायें वरना वह परिस्थिति ही हमारे हृदय को छेदकर पार करेगी और हम सचमुच अपमानित तथा अशान्त भी होंगे और हमें ऐसा अनुभव होगा कि किसी ने हमें गोली मार दी अथवा

हमारे सीने में आग लगा दी।

जब कहीं गोली चल रही होती है तो हर-एक नागरिक उससे अपना बचाव सोचता है। जब कहीं आग लगती है तो हर समझदार व्यक्ति उस आग को बुझाने की या कम से कम स्वयं उससे बच निकलने की युक्ति अपनाता है। इसी प्रकार, यदि कोई व्यक्ति अपमान रूपी गोलियों की बौछार कर रहा है अथवा हमारे सीने में आग लगाने की कोशिश कर रहा है तो हमें भी चाहिए कि हम उससे अपना बचाव करें और इसका बचाव केवल यही है कि हम स्वयं को दिव्य-गुणों की ढाल द्वारा सुरक्षित रखें, स्वरूप की स्मृति द्वारा शीतल रखें और मधुर मुस्कान से परिस्थिति को पार करें, दूसरे के प्रति स्नेह और सम्मान का बर्ताव करके उस पर विजय प्राप्त कर लें। वरना अपमान रूपी गोली से जख्मी होना अथवा अपशब्दों की आग से जलना, बुद्धिमता की निशानी नहीं है। इस परिस्थिति से हताहत होकर कहना कि....."हाय! मेरा मन घायल हो गया है। मेरे हृदय की गति रुक रही है, मेरा मस्तिष्क काम नहीं कर रहा है," भैंस-बुद्धि वाले लोगों का काम है जो कि गोली और आग को देखते हुए भी उससे हट नहीं जाते और अपनी रक्षा नहीं करते।

इस सृष्टि के प्रति निरपेक्ष भाव होने से शान्ति

कई बार ऐसा भी होता है कि मनुष्य जिन व्यक्तियों पर कोई उपकार करता है, वे उसकी बात को नहीं मानते अथवा अधिक मूल्य नहीं देते और मनुष्य समझता है कि इसमें मेरा अपमान अथवा निरादर है। उदाहरण के तौर पर मान लीजिये कि एक मनुष्य ने अपने बाल-बच्चों को बड़े स्नेह से पाला और उनकी पढ़ाई-लिखाई पर काफ़ी धन भी खर्च किया। परन्तु बच्चे बड़े होकर उसको 'पुरानापंथी' और रुढ़िवादि (Orthodox) मानते हैं और स्वयं को आधुनिक विचार धारा (Modern) का अनुगामी मानते हैं और इसीलिए अपने पिता की बात टाल देते हैं। उस पर पूरा ध्यान नहीं देते। अत: वह मनुष्य यह सोचकर मन में दु:खी होता है कि देखिये, यह कैसा ज़माना आ गया है, मैंने जिन बच्चों को इतने परिश्रम से और

दिन-रात की कमाई से पाला, आज वे भी मेरा कहना नहीं मानते और मेरा उचित सम्मान नहीं करते! दूसरे व्यक्तियों की उपस्थिति में भी वे मेरी बात को वज़न नहीं देते और इस प्रकार मेरा अपमान होता है और लोग कहते हैं कि फलाँ आदमी के बच्चे नालायक हैं, वे उसे दो कौड़ी का भी नहीं मानते।'' अब यदि इस बात पर ध्यान दिया जाय तो यह भी अशान्ति का कोई कारण नहीं है बल्कि यह तो मनुष्य को 'उपराम-चित्त' और 'संन्यास-वृत्ति' नाम के दिव्य-गुण रूपी दो अनमोल रत्न देने वाली परिस्थिति है। जब वह मनुष्य स्वयं ही कह रहा है कि ''देखिये, अब कैसा ज़माना आ गया है।'' तो फिर अशान्त और दु:खित होने की क्या बात है? उसे मन में यह समझ ही लेना चाहिए कि वर्तमान काल 'कलियुग' अथवा 'अधर्म युग' है इसमें मनुष्य अधम होते हैं, वे कृतघ्न, कर्तव्य-विमुख और धर्म-भ्रष्ट होते हैं। अत: उनसे यही आशा हो सकती है कि वे अपने पिता की उचित बात को भी 'पुराने पंथ की बात' कहकर टाल दें। 'कलियुग' नाम वाले ज़माने में दिव्य मर्यादा नहीं होती और अब तो कलियुग का अन्त भी आ पहुँचा है तो आसुरी लक्षणों की पराकाष्ठा होना भी स्वाभाविक है। इसमें आश्चर्यचकित या व्यथित होने की क्या बात है? अब तो सृष्टि तमोप्रधान और राक्षसी हो चुकी है। अब यहाँ के लोगों से सुख, स्नेह की आशा करना भूल है!

अत: मनुष्य को चाहिए कि अब अपने मन को समझाये कि...'जो-कुछ भी मेरे साथ पेश आ रहा है, यह मेरे मन को संसार से उपराम तथा आसक्ति तोड़ने के लिए शिक्षा दे रहा है और मुझे अपना मन अपने सच्चे मीत-परमपिता परमात्मा ही की ओर जोड़ लेना चाहिए।' मनुष्य को सोचना चाहिए कि....''अब सभी आत्माएं माया ही की मत पर हैं और ये बच्चे आदि मेरे नहीं हैं। ये भी सब माया ही के हैं, मैं तो अब प्रभु का होकर मन में प्रभु की याद बसाऊंगा।'' इस प्रकार उसे चाहिए कि इस संसार में कार्य-व्यवहार करते हुए भी मन को इससे उपराम कर ले और इसके साथ अपना कोई मानसिक नाता न मानते हुए, निरपेक्ष भाव से जीवन व्यतीत करे।

विपरीत परिस्थितियों में भी शान्ति

मनुष्य के मन को अशान्ति तभी होती है जब उसकी इच्छा पूरी नहीं होती अथवा कोई कठिनाई या विघ्न सामने आता है। ऐसी परिस्थिति में मनुष्य को सोचना चाहिए कि छैनी और हथौड़े से पत्थर को तराश-तराश कर पत्थर को भी पूजनीय मूर्ति बना दिया जाता है अथवा जैसे सागर की मौजों से टकराते-टकराते पत्थर भी शालिग्राम बन जाता है या जैसे समुद्र के तूफ़ान समुद्र के सीपी, रत्न, शंख आदि उछाल कर किनारे पर ला देते हैं, वैसे ही मेरे सामने की यह विकट परिस्थितियाँ भी मुझे तराश कर जीवन को अनुभवी, उच्च और दिव्य बनायेंगी। अत: मनुष्य को चाहिए कि विकट परिस्थितियों को या असफलताओं को अपने ही कर्मों का परिणाम मानकर सहनशीलता को धारण करे क्योंकि इन दिव्य-गुणों की धारणा से ही वह देवता बनेगा और स्वर्गिक सुख-शान्ति प्राप्त कर लेगा।

इस संसार की हरेक घटना को एक 'अटल भावी' जानकर वह यह याद रखे कि -''जो होना था सो हो गया! यह संसार परिवर्तनशील है; एक दिन यह विकट परिस्थितियाँ भी नहीं रहेंगी और फिर सुख के दिन आयेंगे — अब तो यह कलियुगी दु:खी संसार ही दो दिन का है; शीघ्र ही इसका महाविनाश होकर सतयुग के सुख-पूर्ण दिन आयेंगे; मुझे उसके लिए सतोगुणी बनना चाहिए।''

व्यर्थ चिन्तन और पर-चिन्तन कैसे मिटे और शान्ति कैसे मिले?

मनुष्य की अशान्ति का एक कारण यह भी है कि वह बीती हुई दु:खपूर्ण-गाथाओं को बार-बार याद करता रहता है। उदाहरण के तौर पर वह सोचता है कि ''अमुक मनुष्य ने मेरे साथ अच्छा बर्ताव नहीं किया था। मेरे अमुक सम्बन्धी ने समय पर मेरी सहायता नहीं की थी। मेरे अमुक पुत्र ने मेरी आज्ञा नहीं मानी थी। अजी! फलाँ मनुष्य तो ऐसा है कि उसमें फलाँ-फलाँ दोष है।'' वह जब किसी से बात करता है, तब इस प्रकार की ही बीती बातों को दु:खित मन से उनका वर्णन करता है, मानो कि वह इस कहानी को दुहरा-दुहराकर अविनाशी बना देता है जैसे कि अविनाशी दु:ख पाना ही उसका लक्ष्य हो। वह अपने जीवन के इतिहास के दु:ख-सम्बन्धी अध्यायों को खोलकर मन में बार-बार पढ़ता रहता है जैसे कि वह कोई ईश्वरीय चरित्र हों या कोई मुक्ति-जीवनमुक्ति के मन्त्र हों या सत्यनारायण की सच्ची कथा हो। इस प्रकार के स्वभाव वाला मनुष्य मानो स्वयं को स्वयं ही उलझता अथवा उल्टा लटकाता है और फिर कहता है कि -''हाय! मुझे कोई छुड़ाये मुझे कोई सुल्टा करे।''

ऐसे मनुष्य को अब शान्ति प्राप्त करने के लिए यह सोचना चाहिए कि- ''मेरा ये संकल्प-विकल्प तो ऐसे हैं जैसे कि संसार रूपी वाटिका में फूल चुनने के बजाय काँटे चुन-चुनकर अपने हृदय को आप ही घायल करना। अभी एक काँटे की चुभन मिटी भी नहीं होती कि मैं कोई दूसरी काँटेदार बात याद करके मन में दूसरा घाव कर देता हूँ अथवा दूसरे घाव को ताजा कर देता हूँ। यदि इस प्रकार मैं बार-बार अपने हृदय में बीती बातों रूपी काँटे लगाता रहूँगा तो मेरे मन के घाव भरेंगे ही नहीं और आखिर वे नासूर बनकर मुझे ही दु:खी करेंगे। थोड़े-थोड़े दिनों के बाद फिर-फिर इन बातों की याद हो आना और मेरे मन में उनके कारण दु:ख होना अथवा उनकी ओर मेरा ध्यान जाना तो इस बात का सूचक है कि अभी ये काँटे मेरे हृदय से निकले ही नहीं हैं। अत: अब जबकि शान्ति ही मेरा लक्ष्य है और सुख ही मेरे लिए साध्य है तो मैं काँटों को निकाल ही दूँगा अथवा योगाग्नि

से इन्हें भस्मीभूत कर दूँगा, क्योंकि हर-एक समझदार व्यक्ति बगीचे में फूल चुन लेता है और काँटे छोड़ देता है।

बीते हुए को 'भूत' कहते हैं, इसलिए बीती को 'भूत' मानो

हिन्दी भाषा में 'बीते हुए' अथवा हो चुकी घटना को 'भूत'(Past) भी कहते हैं। भूत का दूसरा अर्थ 'प्रेत आत्मा' भी है। भूत (Evil Spirit) को याद करने वाला तो 'जैसी मति, वैसी गति' के नियम के अनुसार स्वयं भी भूत ही बनेगा। अत: जिस मनुष्य का स्वभाव खराब बीती बातों (भूत) को याद करने का है, उसे सोचना चाहिए कि खराब बीती बातें भी 'भूत' (प्रेत; Evil Spirit) के समान हैं। अत: इन्हें याद नहीं करना चाहिए क्योंकि इनकी स्मृति से तो मेरी भी स्थिति और गति भूतों-जैसी हो जायेगी। इस प्रकार भूत अर्थात् बीते हुए वृत्तान्तों को 'भूत' अर्थात् प्रेत मानकर उनसे छुटकारा पाना चाहिए और भविष्य को याद करना चाहिए क्योंकि हम जैसे अच्छा बनना चाहते हैं, वैसे अच्छे संकल्प और कर्म भी हमें करने चाहिये। जैसे हमारे कर्म होंगे वैसे ही हमारा भविष्य अथवा भविष्य-फल होगा।

बीती को बीती जानो, दुनिया न जीती मानो

मनुष्य को चाहिए कि वह सदा याद रखे कि -''यह संसार तो एक ड्रामा की न्याई है अथवा जैसे सिनेमा के पर्दे पर फिल्म देखी जाती है, वैसे ही सब-कुछ मैं देख रहा हूँ। इस ड्रामा अथवा फिल्म की रील (Reel) तो आगे-आगे खुलती जाती है। अत: बीती बातों को याद करना तो गोया पीछे की रील खोलने की कोशिश करना है जो कि रील लिपट चुकी है! यह तो फिल्म को देखने की रीति नहीं है।'' अत: मनुष्य को सोचना चाहिए कि-''इस विराट् ड्रामा में जो-जो दृश्य आगे आता जाता है, मुझे तो उसे देख-देखकर हर्ष होना चाहिए। जो ड्रामा-रील लिपट चुकी है, अब उसको यदि मैं फिर-फिर याद करने की कोशिश करूँगा तो मैं आगे नहीं बढ़ सकूँगा और आगे के दृश्यों से वंचित हो जाऊंगा और पिछड़ जाऊंगा। इस प्रकार मनुष्य को साक्षी तथा दृष्टा होकर इस संसार के आगामी वृत्तान्तों को देखना चाहिए और जो ड्रामा में नुँधा गया है अर्थात् जो रील में लिपट

चुका है, उससे नहीं चिपटे रहना चाहिए।

इसके अतिरिक्त, जब मनुष्य के मन में बीते हुए समय के बारे में ऐसे विचार आते हैं कि -''उस मनुष्य ने मेरे साथ ठीक व्यवहार नहीं किया था, फलाँ मुकदमे में हार गया था, उस व्यक्ति ने मेरी सहायता नहीं की थी,'' आदि-आदि, तो उसे सोचना चाहिए कि-''जिस समय की मैं बात कर रहा हूँ, अब तो वह समय भी नहीं रहा है, अब तो वह व्यक्ति भी कालान्तर में बदल गए हैं, वह परिस्थिति भी बदल गई है, वह कर्म-फल भी मैंने भोगकर पूरा किया है, अत: अब तो मुझे भी बदलना चाहिए। मेरे किसी कर्म का वह फल था, वह तो भोगा जा चुका, अत: अब उसका चिन्तन करना गोया उस दु:ख के काल को स्वयं ही बढ़ाना है; यह तो दु:ख के धागे को खींचकर लम्बा करना है! इसका अर्थ तो यह हुआ कि मुझे दु:ख और अशान्ति ही सदा प्रिय है? वरना दु:ख के ताने-बाने बुनते जाने का और क्या अर्थ हो सकता है? परन्तु ऐसा तो नहीं हो सकता क्योंकि हर-एक मनुष्य तो वास्तव में सुख और शान्ति ही चाहता है। अत: मेरा भी लक्ष्य तो सुख और शान्ति की ही प्राप्ति है परन्तु कर्म अथवा पुरुषार्थ ग़लत है। इस प्रकार अपने मन को समझाकर मनुष्य को चाहिए कि बीती को बीती जाने और बीते हुए समय की दुनिया न जीती जाने और आगे के लिए उत्तम पुरुषार्थ करे। वह पुरानी और गन्दी बातों की याद करके वायुमंडल को पुराना तथा दूषित न करे, उसमें दु:ख के प्रकम्पन (Vibrations) न फैलाये बल्कि सुख का साधन सोचे।

गन्द को चुगना कौवे का काम, मोती चुगना हंस का धन्धा

संसार में हम देखते हैं कि कौआ गन्दगी के ढेर पर बैठकर उसको खोलता-फोलता रहता है और उसमें से गन्दगी को ही चुगता रहता है। परन्तु हंस के बारे में प्रसिद्ध है कि वह मोती चुगता है अथवा वह क्षीर ले लेता है, नीर छोड़ देता है। अत: मनुष्य को सोचना चाहिए कि-'मुझे ज्ञान-रत्न चुगने वाला अथवा दिव्य-गुण रूपी मोती चुगने वाला हंस बनना अच्छा लगता है या गन्दगी चुगने वाला कौआ? मुझे कोई 'हंस' शब्द से सम्बोधित करे तो मुझे अच्छा लगेगा या 'कौआ' शब्द से सम्बोधित करे तो भायेगा? स्पष्ट है कि हंस का ही स्वभाव सबको प्रिय

है। अत: बीती हुई गन्दी अथवा दु:खदायक बातों को खोलने तथा काँव-काँव करके दूसरों को इकट्ठा करने तथा उनका ध्यान भी उस गन्द की ओर खिंचवाने की आदत छोड़ देनी चाहिए।

बीते हुए इतिहास से शिक्षा लेकर आगे बढ़ना चाहिए

मनुष्य के साथ जो-कुछ बीती है अर्थात् उसका जो इतिहास है, उससे उसे सबक (शिक्षा) ले लेनी चाहिए। परन्तु सबक (अध्याय अथवा वृत्तान्त) को बार-बार रटते अथवा पढ़ते नहीं रहना चाहिए। बार-बार पीछे की बात दोहराना कमज़ोर व्यक्तियों का काम है और गोया पुरुषार्थ की गाड़ी के पहिये को पीछे धकेलने के समान है। अत: उन्नति के आकाँक्षी को चाहिए कि आप-बीती बातों से अथवा जीवन-वृत्तान्तों से भी गुण ग्रहण करके अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता चले।

समय का मीटर चल रहा है, संकल्पों का भाड़ा बढ़ रहा है

मनुष्य को यह सोचना चाहिए कि-''समय का मीटर तो चलता जा रहा है और जीवन की घड़ियाँ बीतती जा रही हैं। अत: यदि मैं वर्तमान समय को भी बीती हुई बातों की याद में बिता दूँगा तो मुझे पश्चाताप होगा कि यह भी समय हाथ से निकल गया। हाय! मैंने पर-चिन्तन में सारा समय गँवा दिया; मैंने प्रभु-चिन्तन नहीं किया! पहला समय दु:ख में गया था और अब दु:ख की याद में चला गया। अत: अब मुझे बीते हुए काल की बातें याद कर-करके काल को गँवाने की बजाय अकाल पुरुष परमात्मा को याद करना चाहिए क्योंकि केवल उस ही की स्मृति सुखदायक है और समय को अनमोल बनाने वाली है। 'इस मनुष्य ने भलाई नहीं की'- यह सोचने की बजाय अब मुझे यह सोचना चाहिए कि-'जो कुछ हुआ वह सब मेरे ही कर्मों का फल था, अत: अब उन मनुष्यों और उनके किये पर ध्यान न देकर मुझे अपना ध्यान (Attention) परमपिता परमात्मा की ओर तथा भलाई या अच्छे कर्मों की ही ओर लगाना चाहिए, वरना मेरे अशुद्ध एवं व्यर्थ संकल्पों-विकल्पों तथा विकर्मों का खाता बढ़ता ही जायेगा और मुझ पर अधिकाधिक भाड़ा बढ़ता जायेगा।'' अत: समय रूपी मीटर को चलता हुआ मानकर, बीती को अपने ही कर्मों का फल जानकर मनुष्य को चाहिए कि व्यर्थ में कर्म-खाता अथवा भाड़ा

न बढ़ायें वरना उसे स्वयं ही वह चुकता करना होगा। यह जानना चाहिए कि मनुष्यों की माला फेरने से मेरी खुशी में घाटा पड़ेगा और कि अवगुणों तथा दु:खों का चिन्तन करने की बजाय अब मुझे प्रभु का चिन्तन करना चाहिए वरना उमरिया धोखे में ही खो जायेगी।

बीती हुई कौन-सी बातें याद करनी चाहिये?

बीती हुई बातें याद करने का जो मनुष्य का स्वभाव है या टेर है, अब उसे अन्य प्रकार से प्रयोग में लाना चाहिए। उस द्वारा मनुष्य को सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग के वास्तविक इतिहास को दोहराना चाहिए अर्थात् उसे यह विचारना चाहिए कि- मैं पहले मुक्तिधाम में था, वहाँ से आकर मैंने सतयुगी दैवी-सृष्टि में जन्म लिया और सतयुग तथा त्रेतायुग में कुल 21 जन्म सम्पूर्ण पवित्रता एवं सुख-शान्ति सम्पन्न राज्य-भाग्य भोगा। फिर द्वापरयुग के शुरू में देह-अभिमानी तथा विकारी हो जाने के परिणामस्वरूप मेरे जीवन में दु:ख और अशान्ति ने प्रवेश किया और जैसे-जैसे मुझ में काम-क्रोधादि विकारों का वेग बढ़ता गया वैसे-वैसे ही मेरे जीवन में दु:ख और अशान्ति की वृद्धि होती गई और मैं उनके निवारणार्थ यज्ञ-तप पूजा-पाठ भक्ति आदि करता रहा परन्तु इस सबके बावजूद भी दु:ख ने मेरा पल्ला नहीं छोड़ा। वर्तमान समय संसार में अत्यन्त पतन, दु:ख और अशान्ति है और मैं भी इस कलियुगी संसार का ही जीव हूँ। सतयुग और त्रेतायुग में 21 जन्म पूर्ण सुखी, द्वापरयुग और कलियुग में थोड़े-बहुत दु:ख वाले 63 जन्म ले चुकने के बाद अब मेरा 84वाँ जन्म व्यतीत हो रहा है। वर्तमान जन्म मेरा अन्तिम जन्म है क्योंकि अब इसके बाद कलियुग का अन्त होना है और एटॉमिक विश्व-युद्ध तथा गृह-युद्धों द्वारा महाविनाश होना है। अब सभी आत्माओं को वापिस मुक्तिधाम को लौटना है और ज्ञान, योग तथा दिव्य-गुणों को धारण करके पवित्र बनना है, वरना धर्मराजपुरी में अपने किये विकर्मों के लिए दण्ड भोगना पड़ेगा। अब मैं तो ज्ञान, योग तथा दिव्य-गुणों की धारणा के अभ्यास द्वारा पुन: सतोप्रधान और पावन बनूँगा और मुक्ति तथा सतयुगी देवपद की प्राप्ति के योग्य बनूँगा- इस प्रकार बीती तथा भविष्य की याद से मनुष्य का कल्याण होता है।

रोग की अवस्था में भी मन में शान्ति कैसे रहे?

इस कलियुगी दु:खमयी सृष्टि में हर-एक मनुष्य को कभी-न-कभी तो रोग होता ही है। रोग की अवस्था में हर-एक सामान्य मनुष्य थोड़ा-बहुत दु:खी होता है और उस समय उसे देह ही का भान रहता है। वह उस समय परमपिता परमात्मा की स्मृति का भी आनन्द नहीं लेता। अत: प्रश्न उठता है कि रोग की परिस्थिति में भी मनुष्य योग-युक्त कैसे रहे और आत्मिक शान्ति और ईश्वरीय आनन्द में कैसे तल्लीन रहे? इस प्रश्न को लेकर यहाँ कुछ-एक लाभकारी युक्तियों का उल्लेख किया गया है:-

रोग में भी योग-युक्त और शान्त रहने के लिए युक्तियाँ

अनेक सत्संगियों के अनुभव के आधार पर कहा जा सकता है कि अगर मनुष्य ज्ञान का आधार ले तो वह रोग को योग में बदल सकता है, वह ज्ञान की सहायता से स्वस्थ (अर्थात् आत्मनिष्ठ) भी हो सकता है और शारीरिक स्वास्थ्य भी प्राप्त कर सकता है। अत: ज्ञानवान मनुष्य को चाहिए कि वह रोग की बजाय योग पर ध्यान दे। उदाहरण के तौर पर, यदि दर्द के कारण उसके मुख से 'हूँ' शब्द निकलता हो तो उसकी बजाय वह 'आत्मा हूँ'- ऐसा बोले और यदि 'आई'शब्द निकलता हो तो 'आई प्रभु, हाँ आई प्रभु' कहे अथवा 'आई एम सोल (I am soul)' यानि 'मैं आत्मा हूँ' - यह वाक्य बोले। यदि पीड़ा के कारण उसके मुख से 'ओ' अथवा 'ऊं' ध्वनि निकलती हो तो ज्ञान के आधार पर 'ओम' या 'ओम् शान्ति' का उच्चारण करे और 'हाय' न कह कर बल्कि 'हे शिवबाबा', 'हे प्रभु'- ऐसा कहे। इस थोड़े-से पुरुषार्थ के फलस्वरूप उसका मन दु:ख को याद करने की बजाय दु:खहर्ता की ओर चला जायेगा और प्रकृतिकृत तन से हटकर परमेश्वर की ओर जाने का अभ्यासी हो जायेगा और सुख अनुभव करेगा। अत: रोगी का पुरुषार्थ यही होना चाहिए कि उसका मन तन में न होकर 'तन्मय' (ईश्वर में एकाग्र) हो जाय। वह रोग के समय फरियाद (याचना) न करे बल्कि याद (प्रभु

को याद) करे, हाहाकार न करे बल्कि शिव की स्मृति का संकल्प करे क्योंकि इस संकल्प से उसका काया-कल्प हो जायेगा और सूली के समान कष्टदायक रोग भी काँटे से भी कम दु:ख देने वाला अनुभव होगा।

राम के भी जो राम (शिव) हैं, इनकी याद से मनुष्य को निश्चित ही आराम मिलता है। अत: मनुष्य को यदि नींद न आये और आराम अनुभव न हो तो वह बार-बार लोगों को यह शिकायत न करे कि आज आराम नहीं मिला बल्कि उसे चाहिए कि वह मन में 'आ-राम, आ-राम' (अर्थात् हे राम आइये) की भावना रखे। इस प्रकार आराम की चिन्ता करने के बजाय राम का चिन्तन करने से उसे अवश्य ही आराम मिलेगा।

तो युक्ति यह है कि मनुष्य अपने शरीर की देख-भाल और रोग का इलाज-उपचार तो करे परन्तु साथ-साथ अपनी विचारधारा को ज्ञान-युक्त तथा ईश्वरोन्मुख बना ले। उदाहरण के तौर पर यदि उसके टाँगों में दर्द हो तो वह उसका इलाज करने के साथ-साथ यह सोचकर खुशी में रहे कि अब तो मुझे परमपिता परमात्मा ने ज्ञान और योग-रूपी दो दिव्य टाँगें दी हैं जिनके आधार पर खड़ा होकर मैं सदा के लिये सुख-शान्ति प्राप्त कर सकता हूँ; दिल का रोग हो तो वह यह सोचे कि अब तो दिलवर परमात्मा मिले हैं अथवा उनसे ही मेरी हार्दिक और सच्ची प्रीति है। नेत्रों में कष्ट हो तो सोचे कि अब तो कल्याणकारी प्रभु ने मुझे ज्ञानचक्षु अथवा दिव्य-नेत्र प्रदान किया है। भुजा को कुछ हो जाये तो सोचे कि अब तो मैं चतुर्भुज अर्थात् शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी बन रहा हूँ। मस्तक में कुछ हो तो सोचे कि अब तो परमपिता परमात्मा ने दिव्य-बुद्धि रूपी अनमोल वरदान मुझे दिया है! प्राणों का कोई रोग हो तो विचार करें कि अब तो मैं प्राणनाथ परमात्मा ही का हो गया हूँ और वे निश्चय ही मेरा कल्याण करेंगे। इस प्रकार की विचारधारा रो मनुष्य को शान्ति के सागर परमात्मा से शान्ति अवश्य मिलेगी। उसकी शरीर-सम्बन्धी चिन्ता ईश्वर-चिन्तन में बदलकर सुखदायक हो जायेगी। वह रोग को भी योग के लिए फुर्सत का एक साधन मानकर योग का आनन्द लेगा।

मनुष्य को यह सोचना चाहिए कि रोग तो मेरे तन को है, मेरा मन उधर क्यों जाता है? मन को तो अपने मनन का अथवा ज्ञान-मंथन का कार्य करना चाहिए! इस प्रकार, मनुष्य को चाहिए कि स्वयं को तन से अलग करके और शरीर को एक कुटिया मानकर योग रूपी तपस्या में लग जाये। अगर उसे नेत्रों का कष्ट हो तो वह त्रिनेत्री भगवान् शिव की ओर अपना ध्यान ले जाय। अगर उनके सिर में दर्द हो तो वह अपने मन को डबल-सिरताज देवी-देवताओं (श्री लक्ष्मी-श्रीनारायण) आदि की ओर ले जाय। अगर उसके गले में कोई खराबी महसूस हो रही हो तो वह मन को गले में न अटकाकर सरस्वती अम्बा की ओर ले जाय। अगर उसकी भुजाओं में कुछ पीड़ा हो तो वह अपनी उन स्थूल भुजाओं को भूलकर अपने पुरुषार्थ अथवा पराक्रम का विचार करे क्योंकि भुजायें पुरुषार्थ की निशानी हैं। यदि टाँगों में कोई तकलीफ हो तो अपनी परमधाम की यात्रा का विचार करे जोकि इन स्थूल टाँगों के बिना ही होती है। यदि उसका सारा शरीर कष्ट में हो तो वह विराट पुरुष ही का विचार करके मन को ज्ञान की गवेषण में लगा दे। इस प्रकार के पुरुषार्थ से उसे बीमारी भूल जायेगी और उसकी मानसिक स्थिति अव्यक्त और हर्ष-युक्त रहेगी। यदि उसे औषधि-उपचार के बावजूद भी स्वास्थ्य-लाभ न हुआ तो भी वह स्वस्थ अर्थात् आत्म-निष्ठ तो हो ही जायेगा।

राग से रोग और द्वेष से दोष मानो और रोग द्वारा हिसाब-किताब चुकता जानो

अगर गहराई से देखा जाय तो राग से ही रोग उत्पन्न होता है। आज किसी मनुष्य को खाने के किन्ही पदार्थों में राग है तो अन्य किसी को रात को जाग-जाग कर भी खेल-तमाशे देखने का राग या चस्का है। अन्य किसी को किसी की देह में अनुराग अर्थात् इश्क या आसक्ति है। किसी को देखो तो दिन में दस बार चाय-पान, सिगरेट-बीड़ी, भल्ले-पकोड़ी, कोका कोला या मिठाई-पकवान खाने का राग है तो अन्य किसी को विशेष सब्जी-भाजी या मेवे-मावे में राग है। किसी को किसी स्त्री या पुरुष के नाम-रूप में अनुराग है और इसके परिणामस्वरूप वह अपने तेज को नष्ट कर रहा है। यह विभिन्न प्रकार का राग ही मनुष्य को मानसिक और

शारीरिक दोनों प्रकार से दुर्बल बनाकर विभिन्न प्रकार के रोगों को उत्पन्न करने वाला है।

इसी प्रकार द्वेष से ही दोष होता है यानि रक्त का दोष (खून में खराबी), वायु का दोष आदि होता है। द्वेष से मनुष्य में कई बीमारियाँ होती हैं। इसीलिए मनुष्य को सोचना चाहिए कि मैं किस-किस प्रकार के राग और द्वेष में फँसा रहा कि आज मुझे ये रोग तथा दोष हुए हैं? उन-उन प्रकार के राग तथा द्वेष को बीमारी का मूल कारण मानकर उन्हें अपने मन से निकाल देना चाहिए। इस पुरुषार्थ से उसका रोग भी थोड़ा-बहुत शान्त होगा और मन की शान्ति तो अवश्य मिलेगी ही। इस प्रकार रोग भी उस आध्यात्मिक आरोग्य का अथवा आत्मिक उन्नति का साधन बन जायेगा और उसका ध्यान तन के बजाय अपने मन अथवा स्वभाव पर चला जायेगा और उसे बदलने के लिये अब वह परमपिता परमात्मा की मधुर स्मृति में लग जायेगा और शान्ति का अनुभव करेगा।

पुनश्च, उसे सोचना चाहिए कि राग या अनुराग के वशीभूत होकर मेरे जो कर्म-बन्धन अनेक मनुष्यों से जुटे हैं अथवा मेरा जो अनेक जन्मों का कर्म-खाता बना है, यह रोग भी उसके चुकता होने का एक साधन है। अत: उसे ऐसा मानना चाहिए कि यह तो एक खुशी की बात है कि मित्र-सम्बन्धियों के साथ, डॉक्टर के साथ तथा अन्य आत्माओं के साथ मेरा जो कर्म-बन्धन जुटा था अथवा जो मेरे अपने ही कर्मों का रहा हुआ लेखा-जोखा है, वह शरीर द्वारा भोगकर भावी के अनुसार मैं चुकता कर रहा हूँ। अपने ऋण को चुकाने से तो हर एक मनुष्य को खुशी ही होती है, अत: मैं भी दु:खी क्यों होऊं? अपने रोग को इस दृष्टिकोण से देखने से भी मनुष्य के मन को ढाढ़स मिलता है।

रोग में मृत्यु से भयभीत न होकर मृत्युंजय को याद करना चाहिए

रोग के समय मनुष्य को मृत्यु के भय से भी अशान्त नहीं होना चाहिए क्योंकि आत्मा पहले भी तो अशरीरी ही थी, शरीर तो उसने बाद में लिया और वह तो एक दिन छूटना ही है। फिर बात यह है कि अगर यह तन छूट भी गया

तब भी तो खुशी ही की बात है क्योंकि रोगी तन छूट कर अब निरोग और नया तन मिलेगा। अत: उसे अब और कुछ भी चिन्ता न करके स्वयं को 'प्रभु-अर्पण' मानना चाहिए, मृत्यु को याद न करके, मृत्युजंय को अर्थात् परमात्मा शिव को याद करना चाहिए। उनकी स्मृति में तन छूटने से भी मनुष्य को बहुत-उत्कृष्ट अवस्था प्राप्त होगी और आगे के लिए उसकी आध्यात्मिक उन्नति का सुअवसर उसे परमपिता परमात्मा स्वयं अवश्य ही देंगे।

मृत्यु-शैया पर रोगी अवस्था में पड़े हुए मनुष्य को यह सोचना चाहिए कि- ''यह घड़ी मेरे लिये परीक्षा की घड़ी है; इस घड़ी अपने मित्र-सम्बन्धियों से और अपनी देह से भी मुझे मोह नहीं होना चाहिए। बल्कि अब मेरे मन का सम्बन्ध अनन्य भाव से सद्गतिदाता परमात्मा ही से होना चाहिए अर्थात् अब मुझे 'नष्टोमोहा: स्मृतिर्लब्धा' होना चहिए। जब मेरे तन से प्राण निकले तो ईश्वरीय ज्ञान सुनते-सुनते और स्वयं को ईश्वर की गोद में अनुभव करते हुए निकले। अहा! मैं तो अत्यन्त सौभाग्यशाली हूँ कि इस तन को छोड़ते समय मुझे आनन्ददाता, परमपिता परमात्मा की एक-तान और स्पष्ट स्मृति है।'' इस प्रकार सहनशीलता का गुण धारण करते हुए मनुष्य को चाहिए कि मरने से पहले ही 'मरजीवा' बन जाय अर्थात् अपनी सभी कर्मेन्द्रियों से और देह से अपने मन को न्यारा (Detach) करके ईश्वरीय स्मृति रूपी गोद का न्यारा सुख ले लेवें। यह 'ईश्वरीय स्मृति ही' 'देवताओं का विमान' है जोकि मनुष्य को अन्त में, स्वर्ग में ले जाता है। अंग्रेजी भाषा में रोगी को 'पेशेन्ट' (Patient) कहते हैं। 'पेशेन्ट' का दूसरा अर्थ सहनशील और 'धैर्यवत्' भी है। अत: रोगी का पहला धर्म सहनशील होना है और उसके लिए तो उसे शक्ति-दाता परमात्मा की स्मृति में स्थित होना चाहिए। इन युक्तियों से मनुष्य को निश्चय ही शान्ति मिलेगी।

निर्धनता की अवस्था में भी मन में शान्ति कैसे रहे?

निर्धनता भी जीवन में दु:ख और अशान्ति का एक बहुत बड़ा कारण बन जाया करती है। निर्धन मनुष्य सोचता है कि -''मैं बड़ा भाग्यहीन और दीन हूँ। धन न होने के कारण न कोई मेरा मान है और न कोई मेरी शान है। मेरी कितनी ही इच्छायें और आवश्यकतायें धन ही की कमी के कारण पूरी नहीं हो पातीं। हाय! निर्धनता का जीवन भी भला जीवन है। ''इस प्रकार के सोच-विचार से वह मनुष्य आहें भरता हुआ जीवन गुज़ारता है और परमात्मा के साथ अपने उच्च सम्बन्ध को न जानने के कारण स्वयं को दीन-हीन मानते हुए मन-ही-मन में अशान्त रहता है।

माना कि रुपये-पैसे वाला धन नहीं है परन्तु अन्य प्रकार का धन तो है?

वास्तव में धन की कमी के कारण मनुष्य को अशान्त नहीं होना चाहिए बल्कि धर्म-युक्त रीति से धन कमाने का पुरुषार्थ करने के साथ-साथ उसे यह सोचना चाहिए कि -''धन तो कई प्रकार का होता है। उदाहरण के तौर पर, समय भी एक प्रकार का धन ही है। चरित्र, पवित्रता अथवा शील तो एक बहुत ही बड़ा धन है जो कि बहुत ही सौभाग्यशाली मनुष्य के पास होता है। ज्ञान रूपी धन तो अविनाशी और सब प्रकार के धनों से श्रेष्ठ माना गया है। अत: मेरे पास रुपये-पैसे वाला धन कम सही परन्तु यह सब प्रकार के सर्वोत्तम धन तो हैं। इसलिए मेरा यह कहना ग़लत है कि मैं भाग्यहीन हूँ, निर्धन हूँ या दीन हूँ। अच्छा, मेरे पास कोई भी धन न सही, प्रभु के प्रति धन्यवाद तो है। अत: मैं तो सौभाग्यशाली हूँ। मैं उस दाता अथवा त्रिलोकीनाथ, सर्व-समर्थ परमपिता परमात्मा की संतान हूँ; मेरे उस पिता के पास तो कुछ भी कमी नहीं है। हाँ, उससे सम्बन्ध तोड़ देने के कारण तथा विकारों के वशीभूत होकर कर्म-भ्रष्ट होने के कारण ही मेरी यह हालत हुई है! परन्तु ये दिन तो बीत ही जायेंगे। अब मैं पुन: उस प्रभु से सच्ची प्रीति जोड़कर और पुरुषार्थ करके सब प्रकार के धन प्राप्त कर ही लूँगा।'' इस प्रकार

धन न होने पर भी मनुष्य को ज्ञान-धन तथा उस द्वारा पवित्रता रूपी धन प्राप्त करके प्रभु का धन्यवाद करना चाहिए और लौकिक तथा पारमार्थिक पुरुषार्थ द्वारा भविष्य के लिए धन का साधन जुटाना चाहिए।

आत्म-ग्लानि न करके ज्ञान-धन प्राप्त करो और प्रभु का धन्यवाद करो

मनुष्य को आत्म-ग्लानि नहीं करनी चाहिए बल्कि सोचना चाहिए कि-''आज श्री-लक्ष्मी और श्री-नारायण के समान तो कोई भी व्यक्ति धनवान नहीं है। उनकी तुलना में तो आज वास्तव में सभी लोग भिखारी और कंगाल हैं। जो भारत कभी सारे विश्व का मुकुटमणि था, आज उसकी सरकार भी निर्धन है, तभी तो सरकार दूसरे देशों से सहायता (Aid) माँगती है। आज अमरीका अति 'उन्नत' राष्ट्र है जिसके पास बहुत धन है, उसके पास भी मानसिक-सुख रूपी धन नहीं है। अत: वे भी शान्ति के भिखारी हैं। अन्य भी जो धनवान नर-नारी हैं, उनमें से भी किसी के पास समय रूपी धन नहीं है और किसी के पास चरित्र रूपी धन नहीं है और आहार-व्यवहार-विचार की पवित्रता जिसे सर्वश्रेष्ठ धन माना गया है, वह तो शायद ही किसी के पास है। अत: मुझ में जो हीनता और दीनता का भाव है, मुझे उसको निकाल देना चाहिए और समय रूपी धन से ईश्वरीय ज्ञान, पवित्रता तथा शान्ति रूपी धन खूब कमाना चाहिए। ईश्वरीय ज्ञान तो धन भी है और जन्म-जन्मान्तर के लिए धन का साधन भी है। इसी धन के बारे में ही तो किसी ने गाया है कि-''मैंने राम-नाम धन पायो, सखी री मैंने राम-नाम धन पायो, दिन-दिन होत सवायो, सखी री मैंने राम-नाम धन पायो।' अत: स्थूल धन नहीं है तो मुझे बारम्बार हृदय से उस परमपिता का धन्यवाद तो करना ही चाहिए कि जो मुझे ज्ञान-धन, चरित्र-धन आदि सर्वोत्तम धन देकर तथा योग रूपी साधन देकर स्वर्ग के राज्य के योग्य बना रहा है।'

धनवालों का धन से योग; आप ज्ञानवान बनकर धन-दाता से योग लगाइये

जिस मनुष्य के पास बहुत धन है, उनका ध्यान तो सारा दिन धन, ब्याज, बैंक बैलेन्स, उधार, लेन-देन आदि पर ही लगा रहता है। अत: उनका योग धन में ही लगा रहता है। प्रभु को तो याद करने की उन्हें फुर्सत ही नहीं है। परन्तु जिसके पास कम है, वह अपना बुद्धियोग धन-दाता परमात्मा से जुटा सकता है और अतुल सुख-सम्पत्ति को प्राप्त कर सकता है। अत: उसका योग उच्च और कमाई अतुल होने के कारण वह अधिक सौभाग्यशाली है। फिर, जिसके पास धन बहुत है, किंचित देखिये तो उनका धन किस तरफ खर्च होता है। वे धन को एक तो शादियों पर, हनीमून (Honey Moon) पर, सिनेमा या अन्य शौक पर घर में **काम वासना** के भोगों के सुन्दर, सुकोमल सामग्री जुटाने पर ही तो अधिकतर खर्च करते हैं। काम विकार पर खर्च करने के अतिरिक्त, वे अधिक और अनुचित लाभ रूपी **लोभ** के वशीभूत होकर चीज़ों में मिलावट, ब्लैक, इन्कम टैक्स और सेल्स टैक्स की चोरी, अफसरों को रिश्वत देकर परमिट और लाईसेन्स लेने पर अर्थात् लोभ और प्रलोभन पर खर्च करते हैं। अधिक धन होने पर उन्हें **अहंकार** तो प्राय: होता ही है और अहंकार अथवा शान को बनाये रखने के लिए वे व्यर्थ रस्म-रिवाज, दिखावे और बनाव-श्रृंगार पर भी खर्च करते हैं। फिर जो धन वे कमाते हैं, उसमें उनकी **मोह-ममता** तो हो ही जाती है और घरबार आदि जिन-जिन वस्तुओं पर वे खर्च करते हैं, उनकी बुद्धि उन्हीं की ओर लगी रहती है। मन उन्हीं में जुटा रहता है। इस प्रकार जब उन्हें धन का नशा चढ़ जाता है, लोभ की चास्नी भी वो चख लेते हैं, मोह-ममता में भी फँस जाते हैं, तब उनकी कोई इच्छा पूरी न होने पर अथवा किसी द्वारा उनकी आज्ञा का उल्लंघन होने पर क्रोध भी उन्हें आता है और उस क्रोध में वे किसी पर मुकदमा करने, किसी को मज़ा चखाने, किसी को पुलिस अथवा गुण्डों द्वारा सीधा कराने की सोचकर उस पर भी खर्च कर डालते हैं। और कुछ न सही तो पान-सिगरेट के व्यसन पर, शराब-कबाब की आदत पर या जीभ

को रसीले लगने वाले अन्य पदार्थो को खाने-खिलाने में ही उनका धन जाता है इस प्रकार उनका धन प्राय: काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, आसक्ति आदि पर ही लगता है जिससे कि वे पाप के भागी बनते हैं। वे कर्मों की दृष्टि से कंगाल हो जाते हैं और विकारों द्वारा अशान्ति का ही आह्वान करते हैं। मनुष्य को बुराई के लिए तन, मन या धन तीनों में से कोई तो साधन चाहिए ही। अत: जिसके पास धन अधिक है, यदि उनके पास ईश्वरीय ज्ञान का अकुश नहीं है, तो वे धन द्वारा विकारों और विकर्मों को खरीदते हैं। निर्विकार धनी तो इस जगत में कोई भी नहीं है, इसलिए सभी अशान्त हैं। अत: जिस मनुष्य के पास बहुत अधिक धन नहीं है, उसे यह सोचना चाहिए कि आज के ज़माने में अधिक धन नहीं है तो अच्छा ही है, मैं अधिक बुराइयों से भी तो बच गया हूँ। मेरा बुद्धि-योग अब घर-बार में या महल-माड़ी में भटकेगा भी तो नहीं। अत: मेरे लिए तो अब धन-दाता (परमात्मा) से बुद्धियोग लगाना सहज है क्योंकि मेरी बुद्धि अधिक झंझटों में उलझी हुई नहीं है।

अर्थ नहीं है 'अनर्थ' भी तो नहीं, 'कोष' नहीं है परन्तु सन्तोष' तो है

इस प्रकार ज्ञान धारण करते हुए मनुष्य को देखना चाहिए कि आज जो बहुत धनवान लोग हैं, उनके पास भले ही 'अर्थ' (धन) तो है परन्तु वे 'अनर्थ' (काम, क्रोध, लोभ आदि) भी तो बहुत करते हैं! मैं तो अनर्थ करने से बचा हुआ हूँ, मुझे तो परमात्मा ने अर्थ-बोध करा दिया है अर्थात् 'आत्मा', 'ब्रह्म', 'परलोक', 'देवता', 'मन', 'कर्म', 'संन्यास', 'योग', 'मुक्ति', आदि-आदि के वास्तविक अर्थ का साक्षात्कार करा दिया है। अत: यदि लोगों के पास अर्थ (स्थूल धन) है तो मेरे पास ये सही अर्थ (ज्ञान) है जिससे कि अनर्थ अर्थात् दु:ख का नाश होता है। उनके पास भले ही वित्त (धन) है परन्तु उनका चित्त तो उनके पास नहीं है। उनका चित्त तो धन ने, अशान्ति ने अथवा झंझटों ने ले लिया है। मेरा चित्त तो हर्ष-युक्त है, शान्त है, एकाग्र है और परमपिता परमात्मा की स्मृति में स्थित होकर आनन्द-विभोर है। पुनश्च, धन वालों के पास भले ही 'कोष'है, उनको 'सन्तोष' तो

नहीं है, उन्हें तो अधिक, और अधिक का ही लोभ है। अत: यदि उनके पास 'रुपये-पैसे' के अर्थ में 'धन' है तो मेरे पास सन्तोष रूपी धन है। मैं तो थोड़े से धन से भी सुख-शान्ति का अनुभव करता हूँ, उनके पास अधिक धन होने पर भी उनका पेट नहीं भरता, अर्थात् उन्हें धन का चस्का लगा ही रहता है। उनका पेट भरता भी हो तो उनकी आत्मा तृप्त नहीं होती। उनकी तृष्णा नहीं मिटती।

पैसा नहीं है तो प्रभु को तो प्राप्त कर लो
अब ज्ञान-धन प्राप्त करके धन्य-धन्य हो जाओ

अत: मनुष्य को सोचना चाहिए कि आज तो धन की कमी भी मेरे लिये गुप्त वरदान रूप बन गयी है। क्योंकि एक तो बहुत धनवान न होने के कारण मैं संसार के झंझटों में अधिक उलझा हुआ नहीं हूँ और मेरे पास समय भी है कि मैं 'पैसा-पैसा' जपने में लगे रहने की बजाय 'प्रभु-प्रभु' की स्मृति में रह पा रहा हूँ। यदि मैं एक बहुत बड़ा धनवान व्यक्ति होता तो शायद मैं संसार के स्थूल पदार्थों में इतना मस्त रहता कि योग की सर्वोत्तम मस्ती लेने की सोचता तक न। आज इस निर्धनता की बलिहारी है कि मैंने ईश्वर की ओर मन किया है। अत: मैं दीन-दु:खी या दुर्भाग्यशाली नहीं हूँ बल्कि जैसे कि उक्ति भी है -''मेरे-जैसा धनी न जग में, मैंने लाख-करोड़ कमायो, सखी री मैंने राम-नाम धन पायो'' मैं वैसा ही धनी हूँ। आज धन वालों के लिए तो यह दुनिया है परन्तु मुझ निर्धन के लिए तो त्रिलोकीपति भगवान स्वयं हैं-''यह मेरे लिए हर्ष की बात है, यह अशान्ति का विषय नहीं है। आज भले ही मेरा कोई मान नहीं है परन्तु मेरे पास ईमान तो है, पवित्रता रूपी सच्ची कमाई के कारण ईश्वर के दरबार में तो मेरा मान होगा ही।'' अत: मनुष्य को चाहिए कि स्वयं को 'दीन' (हीन) न मानकर 'दीनहार' (ईमानदार; धर्मयुक्त) माने और ज्ञान, पवित्रता तथा शान्ति रूपी धन प्राप्त करता हुआ स्थूल धन कम होने पर भी, स्वयं को धन-धान्य माने क्योंकि ये ज्ञान और पवित्रता आदि धन ईश्वर के सर्वोत्तम वरदान हैं जोकि अत्यन्त सौभाग्यशाली ही को प्राप्त होते हैं।

आय कम है, परन्तु उपाय तो बड़ा है

उपर्युक्त रीति से विचार करते हुए मनुष्य को सन्तोष करना चाहिए और स्वयं को दीन-दु:खी मानने के बजाय हर्षित होना चाहिए। ज्ञान के आधार पर निर्धन मनुष्य को यह सोचना चाहिए कि 'भले ही मेरी आय कम है, परन्तु मेरे पास उपाय (ज्ञान पुरुषार्थ) तो बड़ा है।' इस ईश्वरीय ज्ञान रूपी उपाय से तो मैं 21 जन्मों के लिए मालामाल हो जाऊंगा, सम्पूर्ण सुखी हो जाऊंगा, मुझे कभी भी दु:ख और अशान्ति नहीं होगी। इस प्रकार चिन्तन करते हुए मनुष्य को चाहिए कि परमपिता परमात्मा की जो आज्ञा है कि -''पवित्र बनो और योगी बनो'', उसका पूर्ण रीति से पालन करें। पवित्रता का व्रत लेने से उसे आज नहीं तो कल अवश्य ही प्राप्ति होगी। अत: यदि मनुष्य के पास धन नहीं है तो वह पहले 'ज़बान का धनी' बने अर्थात् परमात्मा से पवित्रता का वचन करके उसे पूरा निभाये तो समयान्तर में सब संकट दूर हो जायेंगे। जो मनुष्य ज़बान का जितना बड़ा धनी बनेगा वह भविष्य में उतना बड़ा धनवान होगा।

परन्तु आज हम देखते हैं कि जिन लोगों के पास काला धन कम है, वे -''भूखे भजन न होय गोपाला''- इस प्रकार के वाक्यों के रूप में बहाना बनाते हैं। वे सारा दिन धन कमाने, खाने और फिर कमाने के लिए तैयार होने में ही लगा देते हैं और परमपिता परमात्मा के ज्ञान तथा सहज स्मृति के लिए दो घड़ी भी नहीं निकालते। वे कहते हैं-''इस योग-वोग ने ही हमें निर्धन बनाया है, वरना जिन देशों का ध्यान योग आदि की ओर न होकर व्यापार, कारखानों और धन कमाने के साधनों पर है, वे आज बहुत ही धनवान हैं। वे बहुत ही आगे निकल गए हैं।'' परन्तु ऐसा कहने वाले लोग यह नहीं समझते कि केवल धन ही जीवन का लक्ष्य नहीं है, धन कोई सिद्धि नहीं बल्कि साधन है। जीवन का लक्ष्य अथवा सिद्धि तो सम्पूर्ण सुख-शान्ति ही है। आज जिन देशों में धन है, वे भी सम्पूर्ण सुख-शान्ति से युक्त नहीं है क्योंकि उनके मन में बमों का भय और विकारों तथा विलासिता की अग्नि धधक रही है और आज अशान्ति, दु:ख, निर्धनता आदि का मुख्य और मौलिक कारण ही यह है कि मनुष्य स्वयं को तथा परमपिता परमात्मा को भूल चुका

है। आज जो लोग परमात्मा को याद करते हैं वे भी परमात्मा को प्राय: जानते नहीं हैं और उनके कर्म भी श्रेष्ठ नहीं हैं। अत: आज आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य परमपिता परमात्मा का तथा कर्मों की गहन गति का ज्ञान प्राप्त करे और ज्ञान-युक्त रीति से परमपिता परमात्मा की स्मृति में स्थित होकर पवित्र कर्म करे और फिर धन कमाने का पुरुषार्थ करे। तभी इस दुनिया में लूट-खसोट, लोभ-लालसा, विकार और भ्रष्टाचार, पर-पीड़न एवं परेशानी दूर होगी और सुख-समृद्धि सर्वत्र देखने में आयेगी। तभी विश्व में शान्ति होगी और कोई भी निर्धन नहीं रहेगा, न ही धनवान लोग दूसरों की कमाई को ऐंठेंगे।

ज्ञान दान करोगे तो धनी बनोगे
कर्म नहीं कर सकते तो धर्म ही करो!

हरेक व्यक्ति को यह रहस्य भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि या तो मनुष्य इस जन्म के कर्मों से धन प्राप्त करता है या पूर्व-जन्म में धन-दान करने के फलस्वरूप उसका जन्म धनवान घराने में होता है। अत: पूर्व-जन्म में यदि मनुष्य ने धन-दान नहीं किया था तो अब उसे धन के लिए कर्म अर्थात् पुरुषार्थ करना चाहिए। परन्तु यदि मनुष्य कर्म नहीं कर सकता अर्थात् यदि वह वृद्ध है, रोगी है, निर्बल है या अन्य किसी कारण से असमर्थ अथवा लाचार है तो धर्म करे अर्थात् ईश्वरीय ज्ञान को प्राप्त करे तथा दूसरों को भी ज्ञान-ध्यान की श्रेष्ठ बातें सुनाये। इस प्रकार ज्ञान-रूपी सर्वोत्तम धन-दान करने से भविष्य में उसे स्वर्गिक सुख मिलेगा ही परन्तु अब भी धर्म करने वाले अर्थात् वास्तविक एवं विवेक-युक्त ज्ञान देने वाले मनुष्य के जीवन-निर्वाह का साधन स्वयं ज्ञान-सागर परमात्मा किसी-न-किसी के द्वारा जुटायेगा ही क्योंकि ऐसी सर्वोत्तम समाज-सेवा करने वाले की सेवा करना समाज का कर्तव्य है।

मनुष्य को सोचना चाहिए कि जिन श्रीलक्ष्मी-श्रीनारायण का पूजन करके लोग उनसे धन माँगते हैं, वे भला किस साधन से इतने धनवान बने? जिन राजाओं आदि के नाम से सिक्का चलता रहा, उन्होंने भला राजघराने में किस कर्म-सिद्धान्त के अनुसार जन्म लिया? परमपिता परमात्मा शिव ने समझाया है कि पूज्य श्रीलक्ष्मी

और श्रीनारायण ने पूर्व जन्म में जगदम्बा सरस्वती और प्रजापिता ब्रह्मा के रूप में ज्ञान-धन तथा सन्तोष रूपी धन भी कमाया और दान भी किया था। दूसरा, राज-घराने के सम्बन्ध में जो ऊपर प्रश्न किया गया था उसके विषय में भगवान शिव ने स्पष्ट किया है कि राज-घराने में जन्म लेने वालों ने भी पूर्व-जन्म में निर्धनों आदि को धन दान दिया था। अत: अब जो व्यक्ति शान्ति तथा पवित्रता रूपी धन से वंचित मनुष्यों को ज्ञान-धन देकर पवित्रता एवं शान्ति से युक्त करेगा, उसे भी निश्चय ही भविष्य में स्वर्गिक राज्य भाग्य तथा सुख सुविधा आदि प्राप्त होंगे ही। इस प्रकार ईश्वरीय ज्ञान को ही 'रंक से राव' बनाने वाला साधन मानकर अब मनुष्य को इस कमाई में लग जाना चाहिए और अशान्त तथा दु:खी नहीं होना चाहिए।

परमपिता परमात्मा शिव ने समझाया है कि-"अब तो निकट भविष्य में इस कलियुगी धर्म-भ्रष्ट, कर्म-भ्रष्ट, योग-भ्रष्ट और मिथ्या ज्ञानाभिमानी सृष्टि का महाविनाश ऐटम बमों तथा गृह-युद्ध आदि के द्वारा होने ही वाला है। अत: जिसके पास बहुत धन है, उन पर भी यही उक्ति चरितार्थ होगी: "किसी की दबी रही धूल में, किसी की राजा खाय। किसी की चोर लूट जाय, किसी की आग जलाय। सफली होगी उसकी जो ईश्वर अर्थ लगाय।" अत: ये स्थूल धन तो अब थोड़े ही वर्षों के बाद काम आना ही नहीं है। जिन्होंने यह ज्ञान-धन पाया और कमाया होगा, आने वाले आपद्-काल में वही सन्तुष्ट होंगे। उन्हीं का भविष्य उज्वल होगा। इन सभी अनमोल रहस्यों को जानकर अब मनुष्य को चाहिए कि अब समय रूपी धन न गँवाए बल्कि ये आने वाले कुछ वर्ष सन्तोष से और पुरुषार्थ से गुज़ारते हुए उसे ज्ञान-धन, योग-धन, पवित्रता-धन और चरित्र धन कमाने में ही लगाकर सफल कर ले।